॥ श्रीहरिः ॥

श्रीभागवत-दर्शन
भागवती-कथा
(सैंतालीसवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्विता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

—:o:—

लेखक
श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

—:o:—

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर झूसी (प्रयाग)

—:※:—

संशोधित मूल्य

द्वितीय संस्करण १००० प्रति] कार्तिक सं० २०२३ वि० [मू० १-२५ पै०

मुद्रक—पं० राजाराम शुक्ल भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगञ्ज इलाहाबाद ।

विषय अनुक्रमणिका

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

'भगवती कथा' का यह ४७ वाँ खण्ड है, ४८ वाँ भी इसके साथ साथ जा रहा है। इन अङ्कों के पहुँचने पर आपकी चतुर्थ वर्ष की दक्षिणा समाप्त हो जाती है। अतः इन अङ्कों के पाते ही आप अगले वर्ष की—१५=) दक्षिणा शीघ्राति शीघ्र भेजिये।

रुपया मनीआर्डर से आने में हमें भी सुविधा रहती है और ग्राहकों को भी सुविधा रहती है। जिनके रुपये आ जाते हैं, उन्हें हम पहले पुस्तक भेजते हैं, हमारा खाता भी ठीक रहता है और कोई असुविधा नहीं होती। वी. पी. से भेजने में देरी होती है, जब तक वी. पी. छूट कर नहीं आती दूसरे खण्ड भेजे नहीं जाते, किसी किसी वी. पी. को लौटने में तो वर्ष दो वर्ष लग जाते हैं, इन्हीं सब कारणों से आप मनीआर्डर से ही रुपये भेजें।

वी. पी. अवश्य छुड़ालें

जिनके रुपये नहीं आवेंगे उन्हें तो हम वी. पी. भेजेंगे ही। कुछ ग्राहक ऐसा करते हैं कि न तो मनीआर्डर भेजते हैं और न ग्राहक न रहने की सूचना ही देते हैं, वी. पी. पहुँचाने पर उसे लौटा देते हैं। यह इस पवित्र धार्मिक संस्था के साथ घोर अन्याय है। यदि आपको ग्राहक नहीं रहना है, तो छ पैसे के कार्ड पर सूचना दे दें। आपके छ पैसे के लोभ से कार्यालय की छे सात आने की हानि होती है और जाने आने से पुस्तक बुरी बन जाती है। अतः—

जिन्हें ग्राहक न रहना हो वे तुरन्त सूचना दे दें ?

क्षमा प्रर्थना

ये अङ्क बहुत दिनों के पश्चात् पाठकों के पास पहुँच रहे हैं। इसके दो कारण हैं, एक तो अर्थाभाव दूसरे श्रीमहाराज जी

(श्रीब्रह्मचारी जी) का चुनाव में खड़ा होना। सब लोग चुनाव के चक्कर में फँस गये, इसलिये इन खण्डों के निकालने में देर हुई, पाठक पाठिकायें क्षमा करें।

एक एक नया ग्राहक अवश्य बनावें।

हम बार बार प्रार्थना करते हैं कि सभी पाठक पाठिकायें कम से कम एक एक नया ग्राहक अवश्य बनावें। इससे हमारी आर्थिक कठिनाई बहुत कुछ दूर हो सकती है। हम चाहते हैं 'भागवती कथा' का घर घर प्रचार हो।

संकीर्तन-भवन, झूसी (प्रयाग) { भवदीय—
व्यवस्थापक

जरासन्धकी मथुरा पर चढ़ाई

अस्तिः प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ ।
मृते भर्तरि दुःखार्ते ईयतुःस्म पितुर्गृहान् ॥
पित्रे मगधराजाय जरासंधाय दुःखिते ।
वेदयांचक्रतुः सर्वमात्मवैधव्यकारणम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५० अ० १, २ श्लो०)

छप्पय

जरासन्धकी सुता अस्ति अरु प्राप्ति सयानी ।
परम सुन्दरी सुघर कंसकी दोऊ रानी ॥
कंस मरत ससुराल त्यागि पितु घर अपनायौ ।
जरासन्धतैं सकल कंस को वृत्त बतायौ ॥
सुनत कुपित अति खल भयो, भारी सेन सजाइकैं ।
आयो यदुकुल नाश हित, अति बलधर गरवाइकैं ॥

भगवान्‌को जब जैसा करना होता है, तब वैसा ही कारण उपस्थित कर देते हैं। लोग व्यर्थमें दोष देते हैं, अमुकने ऐसा

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अस्ति और प्राप्ति ये दो कंसकी रानियाँ थीं। दोनों अपने पति के मर जाने पर दुखी होकर अपने पिताके घर चली गईं। वहाँ जाकर इन्होंने दुखित होकर अपने पिता जरासन्धको अपने विधवा होने का कारण बता दिया।"

ञ्या, अमुक ऐसा न करता तो ऐसा न होता। करने वालेने तो ही किया, जो होने वाला था। ऐसा होने वाला न होता तो वह रता ही क्यों? भगवान् क्रीड़ाप्रिय हैं। असुर भी उनके ही त्पन्न किये हुए हैं और सुर भी। जब उन्हें जिसके साथ क्रीड़ा रनी होती है, तब उसे ही बल प्रदान कर देते हैं। कभी असुर ली हो जाते हैं यहाँ तक कि वे अपराजित भगवान्को भी पराजित र देते हैं। भगवान् का भला कोई क्या पराजित करेगा, किन्तु वे ीड़ा के निमित्त नर नाट्य किया करते हैं। अबलको बली और ालीको अबल बना देना उनका विनोद है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब अक्रूरजी हस्तिनापुरसे ांडवों का समाचार ले आये, तो भगवान् सोचने लगे अब ुद्ध होना चाहिये। पृथिवी पर बहुत जन संख्या बढ़ गयी । दुष्टलोग मनमानी करने लगे हैं। किन्तु युद्ध हो कैसे, सहसा किसी पर चढ़ाई की भी नहीं जाती। भगवान् को चाहे ो अपना शत्रु मान ले, किन्तु वे किसी के शत्रु नहीं, वे तो ाणिमात्र के सुहृद् हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जब भगवान् प्राणिमात्र के ुहृद् हैं, तो कंस और उसके अनुयायियों को उन्होंने मारा क्यों?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् ने कोई द्वेषवश इन सबको थोड़े ही मारा था। उनके कल्याण के ही लिये भगवान् ने उनका वध किया। साधुओं का रक्षण और दुष्टोंका दमन, यही तो भगवान् के अवतारका प्रयोजन है। कंस बड़ा दुष्ट था। अपने कुलवालों का सदा क्लेश पहुँचाता रहता था, इसीलिये भगवान् ने उसका वध किया।"

शौनकजीने पूछा—"अच्छा, सूतजी! यह बताइये कंस ...ता था, भगवान्ने भरी सभामें उसे मार दिया, किन्तु किसीने

इसका विरोध नहीं किया। कंसका पक्ष लेकर किसीने श्रीकृष्णसे युद्ध नहीं किया ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! कंसके अत्याचारों से समस्त प्रजा मन ही मन उससे दुखित थी। सभी उसकी मृत्यु चाहते थे। सभीके मनकी बात होने से सबको आन्तरिक प्रसन्नता हुई, इसीलिये सबने भगवान् के इस कार्यकी प्रशंसा की, उनका अभिनन्दन किया। हाँ, मगधके राजा जरासंधने उनके इस कार्यका विरोध अवश्य किया। उसने क्रोध मे भर कर यादवोंकी राजधानी मथुरा पर चढ़ाई कर दी।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! कहाँ मगध कहाँ मथुरा जरासन्धने कसका इतना पक्ष क्यों लिया ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! कंस जरासंधका जामाता था। जरासन्धकी अस्ति और प्राप्ति नामकी दो बड़ी ही सुन्दर कन्यायें थीं। उनका विवाह वह किसी परम शूरवीर राजा से करना चाहता था। कंसने अपनी शूरता दिखाकर जरासन्ध को प्रसन्न कर लिया। तब उसने अपनी कन्याओं का विवाह इसके साथ कर दिया। भगवान्ने जब कंसको मार डाला तो वे दोनों दुखित होकर अपने पिताके यहाँ गईं और रो रो कर अपने पतिके मार जानेका सब वृत्तान्त बताया। रोते रोते उन्होंने कहा—"पिताजी ! छोटेसे कृष्णने आकर भरी सभामें उन्हें मार दिया। किसी ने इस बातका विरोध तक नहीं किया। अब वही छोटा सा छोरा अपने भाईके सहित मथुरा का सर्वे सर्वा राजा बनकर बैठा है। नाममात्रको कठपुतलीकी भाँति ससुरजी को राजा बना लिया है। वे तो बूढ़े हैं। अपने सब पुत्रोंके मारे जानेसे दुखी हैं, उनमें कुछ करनेका सामर्थ्य नहीं। सब करते धरते तो कृष्ण और बलराम ये दोनों भाई हैं। ससुरजी तो नाममात्रके राजा हैं।"

यह सुनकर जरासन्ध को बड़ा क्रोध आया। उसने दाँतों से

ओठको काटते हुए कोध में भरकर कहा—"अच्छा, उस छोटे से कृष्णका ऐसा साहस ? मैं माथुर और शूरसेन देशको यादवों से रहित करता हूँ। मैं हाथ में खड्ग लेकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि पृथिवी पर एक भी यादवको नहीं छोड़ूँगा।" ऐसी प्रतिज्ञा करके उसने सैन्य सजाने की आज्ञा दी। बातकी बातमें चतुरङ्गिनी सेना सजकर तैयार हो गई।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जरासन्ध बड़ा बली था। उस समय पृथिवी पर वही सबसे बली था, पृथिवी के समस्त राजाओंको वशमें करके उसने सम्राट पद प्राप्त कर रखा था। सभी राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। जिन राजाओंने उसकी अधीनता नहीं मानी उन सबको पशुओं की भाँति पकड़ पकड़ कर उसने बंदी बना रखा था। जितने सूर्यवंशी चन्द्रवंशी नृपतिगण जो अपने को कुलीन और चक्रवर्ती मानते थे, वे सबके सब उसके अधीन हो गये थे। परम प्रतापी चेदि देशका राजा शिशुपाल उसका सेनापति था। करूपराज, महाराज वक्र, वक्रदन्त, मेघवाहन, करभ, यवनराज गुरु, भगदत्त, चन्देरी नरेश मिथ्यावासुदेव, भोजवंशी भीष्मक, आकृति तथा अन्यान्य सहस्रों नरपति उसके यहाँ सेवकोंकी भाँति रहते थे। हंस और डिम्भक नामके दो बड़े बली राजा थे। वे दोनों सगे भाई थे। वे दोनों आकर जरासन्ध के समीप ही शिष्य भावसे रहते थे। उन्हें ब्रह्माजीका वरदान था कि किसी भी अस्त्र शस्त्रसे समर में न मारे जायँ। जरासन्धकी सेनाका संचालन ये दोनों भाई ही करते थे। इन दोनोंमें इतना प्रेम था कि एक दूसरे के बिना जीवित नहीं रह सकता था। इन दोनोंकी सहायता से ही जरासन्ध ने समस्त पृथिवी पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। कोई भी राजा उसके सम्मुख सिर नहीं उठा सकता था। प्रायः सभी बड़े बड़े राजा उसके अधीन रहकर कर देते थे।

ऐसे प्रबल प्रतापी राजाके दामादको श्रीकृष्णचन्द्रने मार दिया, उसकी पुत्रियोंको विधवा बना दिया. इससे उसके क्रोधका ठिकाना नहीं रहा। समुद्रके समान उमड़ती हुई सेना लेकर उसने चारों ओरसे मथुरापुरीको घेर लिया।

भगवानको अभीतक समर में सेना के सम्मुख युद्ध करने का तो काम पड़ा नहीं. अबतक तो जो भी असुर आया, किसीको घूँसे से मार दिया, किसीका पेट फाड़ दिया. किसीके मुँह में हाथ डाल दिया, किसीका चपतसे ही सिर उड़ा दिया, यहाँ तक कि दश सहस्र हाथियोंके बलवाले मामा कंसको भी चोटी पकड़ कर ही परलोक पठा दिया, किन्तु अब तो तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर जरासन्धने मथुरापुरीको घेर लिया है। अब लात घूँसा, थप्पड़ों से तो काम चलने का नहीं। अब तो युद्धकी सभी सामग्री चाहिये। यादव थोड़े थे युद्धोपयोगी सामग्री भी उनके पास नहीं थी। जरासन्ध की सेनाने उन्हें चारों ओर से घेर लिया था। इस कारण वे सबके सब बड़े भयभीत हो रहे थे। अपने बन्धु बान्धवोंको भयभीत देखकर लीला मनुष्य भगवान वासुदेव अपने अवतारके प्रयोजनको स्मरण करके देशकालानुसार सोचने लगे—"यह जरासन्ध ही पृथिवीका भार बढ़ाये हुए है। यह ऊपर से तो धर्मात्मा बना है, किन्तु मुझ सर्वात्मासे द्वेष करता है, चतुरंगिणी सेना लेकर अपने सहायक साथियोंके सहित इसने हमारी पुरीको घेर लिया है। मैं इसकी समस्त सेनाको मार डालूँगा। किन्तु अभी इसे नहीं मारूँगा, क्योंकि पराजित होकर यह पुनः पुनः सैन्य संग्रह करके हम पर आक्रमण करता रहेगा। इस प्रकार बिना प्रयासके सेना यहाँ आती रहेगी और हम उसका संहार करते रहेंगे। इस प्रकार सैनिक शक्ति का ह्रास होने पर फिर इन असुर प्रकृतके राजाओंको भी मरवा देंगे। आज सभी राजाओंका सैन्य बल

बहुत बढ़ गया है, सब अभिमानमें भर कर लड़ते हैं। राजा सब दुष्ट हो गये हैं, जरासन्धका पक्ष लेकर वे भी अन्याय कर रहे हैं। अतः एक बार सबका संहार हो जाय यही उत्तम है। मैं कालरूपसे दुष्टोंका संहार करने और शिष्टोंका पालन करनेको ही अवतीर्ण हुआ हूँ। धर्मकी रक्षा और अधर्म का ह्रास करना ही मेरे अवतारका प्रयोजन है, किन्तु मेरे पास समयोचित दिव्य अस्त्र-शस्त्र नहीं हैं। अब उनको मेरे समीप उपस्थित हो जाना चाहिये।"

भगवान् ऐसा सोच ही रहे थे कि तुरन्त ही आकाश से सारथियोंके सहित दो दिव्य रथ तथा युद्धोपयोगी अन्य सामग्री, अस्त्र, शस्त्र, दिव्य आयुध कवचवर्म सभी उपस्थित हो गये। दोनों भाइयोंने अपने सनातन दिव्य चैतन्य अस्त्रों को देखा भगवानने बलदेवजी को उनका परिचय कराया। दोनों ने उनके समय पर आने पर हर्ष प्रकट किया। बलदेवजी के सहित भगवान्ने दिव्य कवचों को धारण किया अपने शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, खड्ग, धनुष और बाण इन अस्त्रायुधोंको धारण किया। दोनों वीर युद्ध के लिये सुसज्जित हुए। भगवान् ने बलदेवजी से कहा—"भैया! अब देखते क्या हो, चलो शत्रुकी सेनासे युद्ध करके भू का भार उतारें, अपने दुखी स्वजनोंको सुखी बनावें और जरासन्ध जो पुनः सैन्य संग्रह करके यहाँ आने का प्रयत्न करे।"

बलदेवजी ने कहा—"अच्छी बात है, चलो। यह भी खेल हो जाय हमारी जातिके नरनारी अत्यन्त डरे हुए हैं। इस जरासन्धको भी अपने विजयी होने का गर्व है, अतः इसे पराजित करके इसके गर्वको भी खर्व करें और अपने बन्धु बान्धवों को भी सुखी करें।"

यह कहकर दोनों भाई अस्त्र शस्त्रोंसे सुसज्जित होकर जरासन्ध

के समीप गये। सेनामें घुसते ही भगवान्‌ने अत्यन्त वेगके साथ अपने पांचजन्य शङ्खको बजाया। उसकी तुमुल ध्वनि को सुनकर विपक्षी वीरोंका समग्र उत्साह भंग हो गया। मारे भयके उनके हृदय थर थर कांपने लगे।

जरासन्धने देखा कृष्ण और बलराम दोनों युद्धके लिये रथों पर चढ़े समुपस्थित हैं। तब वह भी रथ पर चढ़कर इनके सम्मुख आया। भगवान् श्रीकृष्णने सर्व प्रथम उसे युद्धके लिये ललकारा। तब उसने कहा—"देख, कृष्ण! तेरे बड़े भाईके रहते हुए मैं तेरे साथ युद्ध नहीं कर सकता।"

भगवान् ने पूछा—"मुझसे युद्ध क्यों नहीं करोगे?"

जरासन्धने कहा—"तू अभी बलदेवके सम्मुख बच्चा है। बड़ोंका युद्ध बड़ोंके ही साथ होना चाहिये। क्षत्रिय क्षत्रियके ही साथ युद्ध करता है। तेरी जातिका भी पता नहीं। तुझे कोई नन्द-कुमार कहता है, कोई वासुदेव कोई देवकीनन्दन कहता है कोई यशोदानन्दन। यदि तू नन्दनन्दन है, तो जातिका बनिया है। बनियों से क्षत्रिय युद्ध करता ही नहीं। यद्यपि तू मारने योग्य है, तैंने छलसे मेरे दामादकी हत्याकी है, किन्तु मैं अभी तुझे मारूंगा नहीं। पहिले मैं तेरे बड़े भाई बलदेवको समर में मार डालूँ। तब तुझे देखूँगा।"

यह कहकर वह बलदेवजीसे बोला—"बलराम! यदि तू मुझसे लड़ना चाहता हो, तो आजा। हमारे तेरे दो दो हाथ हो जायँ, तुझमें बल हो तो मुझे मार, नहीं तो मेरे बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर सम्मुख समरमें मरकर उत्तम लोकों को प्राप्त कर।"

उसकी ऐसी बातों को सुनकर भगवान् बोले—"सुनते हो राजाजी! तनिक अपने आपेमें आकर बातें करो! यहाँ व्याख्यान मंच नहीं है, जो मुखमें आया बक दिया। यह तो समर भूमि है, यहाँ कहनेसे काम न चलेगा। कर्तव्य करके दिखाना होगा।

यहाँ बाकजालोंमें काम न चलेगा, अस्त्र-शस्त्रोंका कला कौशल दिखाना होगा। जैसे सन्निपातमें पड़ा पुरुष अंड बंड बकता रहता है, वैसे ही तू बक रहा है। तू मुझसे मत लड़। मेरे भाईसे ही लड़। वे ही तेरे दाँतोंको खट्टा कर देंगे। वे ही तेरे गर्वको खर्व कर देंगे, तेरी सब हेकड़ीको मेरे ये बड़े भाई भुला देंगे। यदि तैंने अपनी माँका दूध पिया हो, तो आजा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवानके ऐसे वचन सुनकर जरासन्ध अत्यन्त ही क्रुद्ध हुआ और वह बलदेवजीसे युद्ध करने लगा। भगवान उसकी सेनाका संहार करने लगे। भगवानने देखा उसकी सेनाकी कोई संख्या नहीं, टिड्डी दलकी भाँति चारों ओर सेनाही सेना दिखाई देती है। उसके जो हंस और डिम्भक नामके दो राजा सेनापति हैं, वे महान बली हैं। देवता भी उन्हें युद्ध में परास्त नहीं कर सकते। शस्त्रों से न मरनेका उन्हें वर प्राप्त है। भगवान उनकी सेनाको मारने लगे। किन्तु कहाँ तक मारते। भगवानने सोचा ऐसे धर्म युद्ध करते रहेंगे, तो तीन सौ वर्षों में भी हम इसकी सेनाका संहार नहीं कर सकते। फिर जब तक ये हंस डिम्भक दो इसके सहायक जीवित हैं, तब तक इसे कोई परास्त भी नहीं कर सकता। ये दोनों अस्त्र शस्त्रोंसे मारे नहीं जा सकते। अतः कोई तिकड़म करनी चाहिये छल बल से इन दोनों को मरवा देना चाहिये। जरासन्धके ये दोनों ही दाये बाये हाथ हैं। हाथोंके कट जाने पर फिर वह क्या युद्ध करेगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो। हमारे टेढ़ी टांग के पीताम्बर धारी वनमाली योद्धा तो जैसे हैं वैसे हों हैं, किन्तु तिकड़म करनेमे ये सर्वश्रेष्ट हैं। छलना, ठगना, फँसाना तिकड़म करना ये सबसे उत्तम जानते हैं। इन्होंने एक छल किया। जरासन्धकी सेनामें हंस नामका एक दूसरा राजा था। उसे बलदेवजीसे मरवा दिया और हल्ला कर दिया—"हंस मारा गया, हंस मारा गया।

यहाँ तक कि डिम्भक के निजी परिचारकों तक को विश्वास करा दिया। डिम्भक की बुद्धि भ्रष्ट हो गई। हरि ने उसकी मति हर ली। उसने सोचा—"जब मेरा भाई हंस ही मारा गया, तो मैं जीवित रहकर क्या करूँगा।" उसने शोक में भरकर यमुना जी में कूदकर अपने प्राण गँवा दिये। यह समाचार सम्पूर्ण सेना में फैल गया। हंस पर भी न रहा गया, अपने भाई के वियोग में वह भी डूबकर मर गया। उसने भी अपने भाई के पथ का अनुसरण किया। इस प्रकार छल से इन दोनों को तो भगवान् ने समाप्त कर दिया। अब रह गया जरासन्ध, सो उससे बलदेव जी को भिड़ा दिया। दोनों में जैसे युद्ध हुआ, अब लड़ाई भिड़ाई की बात मैं आगे की कथा मे सुनाऊँगा।"

छप्पय

घेरी मथुरापुरी सकल यादव घबराये।
रामश्याम के दिव्य अस्त्र रथ सुमंरत आये॥
चले साजि रन साज समरकूँ दोऊ भाई।
जरासन्ध बल लड़े भयंकर भई लड़ाई॥
इत हरि अतिशय छल करयो, रिपु सेना महँ आइकें।
मागध बल आधो करयो, डिम्भक हंस मराइकें॥

श्रीकृष्ण बलराम से जरासन्ध का सत्रह बार युद्ध

(१०७६)

एवं सप्तदशकृत्वस्तावत्यक्षौहिणीबलः ।
युयुधे मागधो राजा यदुभिः कृष्णपालितैः ॥*
(श्री भा० १० स्क० ५० अ० ४२ श्लो०)

छप्पय

मनुज चरित हरि करत लड़त बल निपुन दिखावत ।
सिंह पकरि जिमि हरिन छोड़ि पुनि खेल खिलावत ॥
चतुरंगिनि रिपु सैन्य मारि यमसदन पठाई ।
करयो शत्रु संहार रक्त की नदी बहाई ॥
भयो पराजित मगधपति, रथ टूट्या सेना मरी ।
लगे शत्रु बध बल करन, तब तिनतें बोले हरी ॥

वीर क्षत्रिय योद्धाओं के लिए समर भी एक प्रकार का यज्ञ है। उसमें शत्रुओं की बलि दी जाती है। युद्ध के उद्यत और सुसज्जित शत्रु को सम्मुख देखकर वीरों के हृदयों में उत्साह की हिलोरें उठने लगती हैं। अंग अङ्ग में स्फूर्ति आ जाती है। उस

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जरासन्ध ने सत्रह बार इतनी ही इतनी सेना एकत्रित करके श्रीकृष्णचन्द्र द्वारा प्रतिपालित यादवों से युद्ध किया।"

समय वे प्राणों का पण लगाकर समर भूमि में उतर पड़ते हैं और निर्भय होकर युद्ध करते हैं। वे सोचते हैं हमारे दोनों हाथों में लड्डू हैं। यदि हमने शत्रु को परास्त कर दिया तो विजय का आनन्द लूटेंगे। यदि लड़ते लड़ते समर में शत्रु के सम्मुख शस्त्रों से मारे गये, तो स्वर्ग का द्वार हमारे लिए खुला ही है। इसी विश्वास पर वे युद्ध करते है। यही विश्वास उन्हें समर से पग पीछे नहीं हटाने देता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जरासन्ध की और यादवों की सेना में घमासान युद्ध होने लगा। दोनों ओर के वीर विजयाकांक्षी थे, दोनों ही ओर के सैनिक अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित थे। दोनों ही ओर रथ, हय, गज और पदाति इस प्रकार चतुरङ्गिनी सेना थी। भगवान् के रथ की ध्वजा पर गरुड़ का चिह्न था और बलदेवीजी का ध्वजचिन्ह ताल वृक्ष का था। ये ध्वजायें दूर से ही दीखती थीं। दोनों ओर ये चिन्ह अङ्कित थे, अतः सामने के लोग भी देख सकते थे और पीछे के लोग भी। दोनों भाई अपने दिव्य रथों पर चढ़कर जरासन्ध की सेना में उसी प्रकार घुस गये, जैसे दो तैराक समुद्र में घुसते हों। जरा जैसे गर्भ को ढक लेती है, जैसे मेघ मंडल को रजमिश्रित वायु ढक लेती है, जैसे राहु सूर्य चन्द्र को ढक लेता है, उसी प्रकार रामकृष्ण के रथों को जरासन्ध की चतुरङ्गिनी सेना ने ढक लिया। जो स्त्रियाँ भगवान् के मुख को ही देखकर जीती थीं, ऐसी मथुरा की नारियों ने जब देखा कि राम कृष्ण रथ पर चढ़कर समर के लिये गये हैं, तब वे व्याकुल होकर अटा अटारियों पर चढ़कर उनके रथों को निहारने लगीं। उन सबकी दृष्टि गरुड़ और तालकी ध्वजाओं पर केन्द्रित हो गई। वे अपलक भाव से उन ध्वजाओं को ही देख रही थीं। मगधराज की प्रचण्ड सेना के प्रवाह से तथा महारथियों और अधिरथियों के रथ, सारथी, अश्व, ध्वज, पताका और रथों के

उड़ी धूलि से दोनों भाइयों के ध्वजा सहित रथ उस समर सागर में विलीन हो गये। दोनों के ध्वजाओं को न देखकर वे मथुरापुरी की नारियाँ व्याकुल हो गईं और मूर्छित होकर गिर गईं।

भगवानने जब देखा हम शत्रु सेनासे सब ओरसे उसी प्रकार घिर गये हैं जिस प्रकार आकाश जल भरे नूतन मेघमंडलों से घिर जाता है, शत्रु सेना के वीर हम पर बारम्बार बाणों की उसी प्रकार वर्षा कर रहे हैं जिस प्रकार सम्वर्तक नामक मेघ प्रलय के समय त्रिलोक को नष्ट करने के निमित्त मूसलाधार वर्षा करते हैं, तो लीला से ही मनुष्य रूप धारण करने वाले श्रीहरि ने अपना विश्वविदित, लोकवन्दित, सुरासुरपूजित परम प्रसिद्ध शार्ङ्ग नामक धनुष उठाया और उसकी टङ्कार की। उस भीषण टङ्कार को सुनकर सभी के हृदय काँपने लगे। सभी उस दिव्य धनुष के भय से दहल गये। अब भगवान् ने स्वयं शत्रु सेना पर वर्षा करनी आरंभ कर दी। वे कब तरकस से बाण निकालते थे, कब धनुष पर चढ़ाते और कब छोड़ते इसे कोई देख ही नहीं सकता था। ऐसा प्रतीत होता था मानों असंख्यों तूणीर स्वयं ही बाण बरसा रहे हों। जिस प्रकार बड़े बड़े ओलों की वर्षा होने पर पेड़ों से पत्ते झर झर कर गिरने लगते हैं, वैसे ही भगवान् के बाण से शत्रु सैन्य के सैनिक, रथ, गज और हय कट कट कर गिरने लगे। भगवान् का धनुष अलात चक्र के समान निरन्तर घूम रहा था। उसका एक मंडल ही मंडल दिखाई देता था, धनुष कहाँ है, डोरी कहाँ है, बाण कहाँ लगते हैं, यह किसी को भी नहीं दीखता था। घोड़ों के सिर कट जाते थे, हाथियों के मस्तक फट जाते थे। घोड़ोंसे घोड़े और हाथियोंसे हाथी सट जाते थे। मृतकोंके शरीरों से बड़े-बड़े गड्ढे पट जाते थे, इस भीषण बाण वर्षा से शत्रुओंके दल घट जाते थे। इधर भगवान तो अपने धनुषसे बाणों की वर्षा कर रहे थे, उधर बलरामजी अपने हलसे खींच खींच कर मूसल से

मानी वीरोंके मानको मर्दन कर रहे थे। असंख्यों वीरोंको परलोक पठा रहे थे। सैनिकोंके रक्तसे वहाँ उन शोणित सरिताओंमें सैनिकों के सिर ही सिर मानों कछुए तैर रहे हों। कटी हुई भुजाएँ भुजङ्गोंसी प्रतीत होती थीं। बड़े बड़े डील डौल वाले मृतक हाथी उस शोणित सरिता में पड़े हुए थे, उनका आधा-अङ्ग रक्त में धँसा था, चारों ओर से रक्त बह रहा था, वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो नदी में छोटे छोटे काली मिट्टीके द्वीप निकल आये हों। कटे हुए घोड़े रक्तमें बहते हुए ऐसे लगते थे मानों मकर जल में डूबते उतराते बहते हुए जा रहे हों। कटे हुए कर, पद तथा अन्यान्य अङ्ग ऐसे प्रतीत होते थे मानों नदी में मछ-लियाँ किलोल कर रही हों। सैनिकों और राजाओंके कटे हुए सिरों के बड़े बड़े लम्बे केश ऐसे लगते थे मानों नदीमें शैवाल उतर रहा हो। प्रत्यंचा कटे धनुष तरंगोंके सदृश दिखाई देते थे। टूटे टाटे अस्त्र शस्त्र ऐसे लगते थे, मानों वृक्षों की डालियाँ, लता गुल्में टूट टूट कर जल में बह रही हों। कटी फटी ढालें भँवरों सी दिखाई देती थीं। महामूल्यमयी मणियाँ बिखेरे हुए रंग बिरंगे पत्थरों की रोड़ियोंके समान चमक रही थीं। कायर सैनिक इस भयावहो नदी को देखकर भयभीत हो रहे थे। उसे दुस्तार समझ कर डर कर भाग रहे थे, वीरों के बल वीर्य को वह वर्धन कर रही थी।

यद्यपि जरासन्धकी सेना असंख्य थी, युद्धकी सभी सामग्रियों से सुसज्जित थो, फिर भी राम श्याम दोनों भाइयोंने उसका अंत कर दिया। छिन्न भिन्न करके सबको धराशायी कर दिया। केवल जरासन्ध हो रह गया। विमानों में बैठे देवता इस दृश्यको देखकर आश्चर्य चकित हो रहे थे। भगवान्के बलवीर्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे। यद्यपि इसमें प्रशंसा करनेकी कोई बात था नहीं। जो भगवान् विश्वकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय करने में

समर्थ हैं, उनके लिये जरासन्धकी सेनाका संहार कर देना साधारण सी बात है। तथापि उन्होंने मानव रूप रख रखा था। इसी दृष्टिसे उनका यह कार्य आश्चर्य भरी दृष्टिसे देखा गया।

जरासन्धकी सम्पूर्ण सेना मारी गई, स्वयं भी वह समर में पराजित हो गया। श्री संकर्षणने उसका विशाल रथ तोड़ दिया। सारथीको मार दिया और घोड़ोंको यमपुर पठा दिया। जब वह निशस्त्र और विरथ बन गया तो बलदेवजीने रथसे उतर कर उसे पकड़ लिया और वे वारुण तथा पाशोंसे बाँध कर उसे मारने को उद्यत हो गये। तब भगवान् बोले—"हैं, हैं भैया ! तुम क्या कर रहे हो। इसे मारो मत।"

बलदेवजीने कहा—"कृष्ण ! तू समझता नहीं भैया ! इस दुष्टने बहुत निरपराध विपत्ती राजाओं का अकारण निर्दयता पूर्वक वध किया है, अतः यह भी मारने योग्य है। इसे मैं मार कर पृथिवीके समस्त राजाओंके दुखको दूर करूँगा।"

भगवान् ने कहा—"देखो, दादा ! यह तो असुरों को घेर बटोर कर लाने वाला दलाल है। आप इसे यहीं मार देंगे, तो हमें न जाने कहाँ कहाँ जाना पड़ेगा। यह रहेगा तो असुरों को एकत्रित कर करके यहाँ ले आया करेगा, इसलिये आप इसे मारें नहीं छोड़ दें।"

भगवानकी बात बलदेवजीने मान ली और उसे तुरंत निरस्त्र करके छोड़ दिया। वह अपने को समस्त राजाओंमें बली शूरवीर और मानी समझता था, अतः उसे अपनी पराजय पर पर दुख हुआ। वह अत्यन्त ही लज्जित हो गया। उसने किसी को अपना मुख न दिखानेका निश्चय किया और वह तपस्या करने के निमित्त उत्तर दिशाकी ओर चल दिया। जब यह समाचार उसके अन्य हितैषी मित्र राजाओंने सुना तो वे सबके सब उसके समीप दौड़े दौड़े गये। उसे रोककर वे सब नम्रता पूर्वक बोले—

"राजन्! आप इतने दुखी क्यों होते हैं। हम आपके सेवक समुपस्थित हैं। आप हमें आज्ञा दें। हम प्राणों का पण लगाकर आपका साथ देंगे।"

जरासन्धने कहा—"भाइयों! आपने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की किन्तु अब आप मुझे रोके नहीं। मैं घोर अरण्य में जाकर उग्र तपस्या करूँगा। मुझे इन छोटे छोटे यादवों के छोकरोंने परास्त कर दिया, तो मैं अब राजाओंको क्या मुख दिखाऊँगा। अब तो मैं इस शरीर को सुखा सुखा कर इसका अन्त ही कर दूँगा।"

राजाओंने कहा—"हे नर नाथ शिखामणे! आप कैसी भूली भूली बातें कर रहे हैं। महाराज! युद्ध में जय विजय तो लगी ही रहती है। जो घोड़े पर चढ़ेगा वही गिरेगा। पीसना पीसने वाला तो घोड़ेसे गिर नहीं सकता। जो स्वयं पतित है, उसका पतन क्या होगा। पतन तो उसीका होगा, जो उत्थान के लिये सतत प्रयत्न करता रहता है। जो ऊँचे मञ्चपर सो रहा है, उसीके गिरने की सम्भावना है। जो आरम्भसे ही भूमि पर सो रहा है, वह गिरेगा कहाँ? मनुष्य पूर्व जन्मोंके संस्कारोंके कारण अवश हो जाता है। जिसकी तनिक भी सम्भावना नहीं होती, वह कार्य भी प्रारब्धवश हो जाता है। आपकी सदा विजय होती रही है। किसीको स्वप्नमें भी यह सम्भावना नहीं थी कि आपकी पराजय होगी। किन्तु प्रारब्धवशात् आपको इन तुच्छ यादवोंसे हारना पड़ा। यहभी बड़े सौभाग्यकी बात है कि आप सकुशल हैं। आप शरीर सुखानेके संकल्पको छोड़िये। आप जीवित रहेंगे तो सैकड़ों कल्याण कृत्योंको देखेंगे। कभी इन यादवोंको आप परास्त भी कर देंगे। ये तुच्छ अल्प वीर्य यादव हैं ही कितने। अबके हम सब लोग मिल कर इन पर चढ़ाई करेंगे। आप अपनी राजधानी को लौट चलें।"

राजाओंकी धर्म-शिक्षा पूर्ण लौकिक नीतियोंसे युक्त आश्वासन वचनोंको सुन कर पराजयके दुखसे दुखी जरासन्ध उदास मन से अपने देश मगधको लौट आया और आकर पुनः सैन्य संग्रह करनेमें जुट गया। उसने निश्चय कर लिया, "मैं जब तक इन यादवोंका नाश न कर दूँगा जब तक इन्हें पराजित न कर दूँगा तब तक विश्राम न लूँगा।" इसलिये फिर उसने प्रयत्न पूर्वक उतनी ही सेना जुटाई।

इधर जरासंध की सेनाका संहार करके तथा अपनी निर्व्रण सेनाको सकुशल साथ लेकर श्रीकृष्ण बलरामजीके सहित मथुरा पुरीमें लौट आए। सभीने समझा समर रूप सागरको समस्त सैनिक श्यामसुन्दर की सहायता से अनायास ही पार कर गये।

विजयी हुए भगवान् अपने बड़े भाई संकर्षण सहित जब पुरीमें पधार रहे थे, तो प्रसन्न होकर विमानोंसे अमरगण सुमनों की वर्षा कर रहे थे। गन्धर्वगण गा रहे थे और अप्सरायें नृत्य कर रही थीं। यादवोंके वंशपरम्परागत सूत, मागध और बन्दी गण उनकी विजय कीर्तिके गीत बना बना कर गा रहे थे। चारों ओर शङ्ख, दुन्दुभी, भेरी, तूर्य, मृदंग, वीणा, वेणु, पणव, बाँसुरी तथा अन्यान्य मंगलमय बाजे बज रहे थे। वे मधुर मधुर बाजे विजयके उल्लासको मानों दशों दिशाओंमें बिखेर रहे हों। नगर निवासियोंने विजयके उपलक्ष्यमें पुरीको भली भाँति सजाया था। राजपथ पर सुगन्धित जलका छिड़काव किया गया था। स्थान स्थान पर तोरण वन्धनवार तथा अन्याय शोभाकी वस्तुएँ लगाई गई थीं। चारों ओर ध्वज पताकायें हिल हिल कर भगवानका मानों स्वागत कर रही हों। ब्राह्मणगण वेदध्वनि कर रहे थे, उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानों दिशायें ही वेद पाठ कर रही हों।

भगवान् जब खुले रथ में बैठकर राजपथ से होकर निकले, तब अटाओं पर चढ़ी प्रीति प्रफुल्लित नयनों से स्नेह पूर्वक निहारने वाली नवेली नागरियों ने उन्हें मनोहर मालाओं, सुगंधित पुष्पों, दधि, अक्षत, अंकुर तथा खील बतासों से ढक दिया। सैनिक भगवान् की जय जयकार करते हुए पीछे पीछे चल रहे थे। नागरिकों की चहल पहल से वह पुरी चलती फिरती और बातें करती सी दिखाई देती थी।

जरासन्ध को विजय करके भगवान् उसका बहुत सा धन लूट कर लाये थे। वह लूट का माल उन्होंने यादवों के अधिप अपने नाना उग्रसेन जी के सम्मुख ज्यों का त्यों लाकर रख दिया। उग्रसेन ने भी उसे सम्मान के साथ ग्रहण किया और फिर यादवों में उसे बाँट दिया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जरासन्ध यादवों पर जला हुआ था। उसके मन में डाह उत्पन्न हो गई थी, कि हाय ! पृथिवी पर मुझसे भी बली पुरुष पैदा हो गया। इसीलिये वह यादवों के नाश करने का सतत प्रयत्न करता रहता था। उसने पुनः सैन्य संग्रह की और फिर बड़े उत्साह के साथ यादवों पर चढ़ाई कर दी।

भगवान् तो उसके बल को देख ही चुके थे। बलदेवजी ने भी समझ लिया कि बच्चूजी कितने पानी में हैं। उन दोनों भाइयों ने जरासन्ध से लड़ने का यही एक नियम बना लिया था कि उसके समस्त सेना को तो मार देना और उसे निरस्त्र करके छोड़ देना। छोड़ देने पर वह फिर नई सेना एकत्रित करता और फिर चढ़ाई करता। इस प्रकार उसने सत्रह बार श्रीकृष्ण-पालिता मथुरा पर चढ़ाई की और सत्रहों बार उसे मुँह की खानी पड़ी। वह पराजित होकर अपनी पुरी को लौट गया। अब के उसने हठ, प्रतिज्ञा

कर ली, कि बिना यादवों को जीते मैं अपनी पुरी में लौटूँगा ही नहीं। यही हठ प्रतिज्ञा करके उसने अठारहवीं बार फिर चढ़ाई की। उसी समय महाबली कालयवन ने भी चढ़ाई कर दी। दोनों से डर कर जिस प्रकार भगवान् भगे वह प्रसङ्ग मैं आगे कहूँगा।

छप्पय

छोड़ो मैया! जाइ घेरि लावैं असुरनि कूँ।
बिनु प्रयास परलोक पठावैं सब पापिनि कूँ॥
सुनि बल छोड़यो चल्यो करन तप नृपनि निवारयो।
आयो सत्रह बार सेन सजि पुनि पुनि हारयो॥
पुनि तप करि हर वर लह्यो, द्विजनि विजय आशिष दई।
कालयवन मथुरा तबहिँ, घेरी हरि चिन्ता भई॥

कालयवन की यादवों पर चढ़ाई

(१०८०)

अष्टादशमसंग्रामे आगामिनि तदन्तरा ।
नारदप्रेषितो वीरो यवनः प्रत्यदृश्यत ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५० अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

सोचें माया मनुज यवन जीत्यो नहिँ जावै।
जरासंध हू आज कालि में पुनि चढ़ि आवै॥
इत भर तैं खल बढ़्यो घेरि सब बन्धुनि मारे।
कालयवन सुत गर्ग यादवनि तें नहिँ हारे॥
तातैं तजि पुर द्वारका, महँ दृढ़ दुर्ग बनाइँगे।
भागि चले रन छोड़िकैं, तो रन छोड़ कहाइँगे॥

भगवान् का एक नाम ब्रह्मण्य देव है। इसका अर्थ है, जो ब्राह्मणों को अपना देवता माने। भगवान् सबकी बात टाल सकते हैं, किन्तु ब्राह्मणों की बात को नहीं टालते। एक भृगु ब्राह्मण ने उनकी छाती में लात मारी, उसके चरण चिह्न को वे अभी तक अपने

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जिस समय अठारहवाँ संग्राम छिड़ने वाला था, उसी समय नारदजी का भेजा हुआ वीर कालयवन मथुरा के समीप दिखाई दिया।"

वक्षःस्थल पर धारण किये रहते हैं। उनकी प्रतिज्ञा है कि यदि मेरी बाहु भी ब्राह्मणों के विरुद्ध आचरण करे, तो मैं उसे अविलम्ब अपने शरीर से पृथक् कर दूँगा। इसीलिये वे ब्राह्मणों के वचनों को सत्य करने के लिये अपनी कीर्ति की भी चिन्ता नहीं करते। उनकी कीर्ति तो स्थाई है नित्य है, उसे कोई मेट ही नहीं सकता। अपकीर्ति अपयश तो उन्हें स्पर्श ही नहीं कर सकता। फिर भी वे दिखावे को लोक विरुद्ध कार्य भी करते हैं, इससे उनका महत्व और बढ़ ही जाता है। जो स्वभाव से सुन्दर है उनकी सभी बातें सुन्दर होती हैं। 'सुन्दरे किं न सुन्दरम्'।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब जरासन्ध सत्रह बार हार गया, तो उसे बड़ी आत्मग्लानि हुई उसने एकान्त में जाकर शिवजी की आराधना की। आशुतोष भगवान् भोले बाबा स्वल्प काल में ही उसके तप से सन्तुष्ट हो गये और दर्शन देकर उससे वर माँगने को कहा। उसने हाथ जोड़कर कहा—"हे वरद! हे विश्वनाथ! हे आशुतोष! आप यदि मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे यही वर दीजिये कि मैं कृष्ण सहित समस्त यादवों को जीत लूँ। अबके मेरी विजय हो।"

शिवजी ने सोचा—"श्रीकृष्णचन्द्र तो हमारे भी स्वामी हैं। यदि इसे वर देते हैं, तो इष्ट का अपमान है, नहीं वर देते हैं तो हमारे वचन असत्य होते हैं। यही सब सोच विचार कर वे बोले—"देखो, भाई! तुम यदि ब्राह्मणों को प्रसन्न करके उनसे विजय का आशीर्वाद प्राप्त कर लो, तो अबके तुम्हारी अवश्य ही विजय हो जायगी।" शिवजी ने सोचा—"और चाहे किसी की बात भगवान् टाल भी दें ब्राह्मणों के वचनों को वे कभी न टालेंगे, क्योंकि उनका नाम ब्रह्मण्य देव है।" इसीलिये उसे ऐसी युक्ति बता दी।

जरासन्ध यह सुनकर अपनी राजधानी में लौट आये। अब

उसे ब्राह्मणों को प्रसन्न करने की धुनि सवार हुई। ब्राह्मणों को वह विधि विधान से पूजा करता, उन्हें सुवर्ण के सिंहासन पर बिठाता, जो भी जिस वस्तु की याचना करता, उसे तुरन्त देता, चाहे वह कितनी दुर्लभ क्यों न हो। ब्राह्मण तो हाथ जोड़ने से ही प्रसन्न हो जाते हैं, फिर इतनी सेवा से प्रसन्न कैसे न होवे। ब्राह्मणों ने प्रसन्न होकर उसे आशिर्वाद दिया—"अबके आपकी विजय अवश्य होगी।"

यह सुनकर उसे अत्यन्त प्रसन्नता हुई अबके उसके हृदय में अत्यन्त उत्साह था। उसे पूर्ण विश्वास था "कि अबके मेरी विजय निश्चित है। शिवजी का और ब्राह्मणों का वचन कभी मिथ्या नहीं होने का।" यह सोचकर वह मथुरापर पुनः चढ़ाई करने की तैयारियाँ करने लगा।

इधर मथुरा में एक और भी अद्भुत घटना घट गई। पश्चिम देश से कालयवन नामक यवनों के राजा ने तीन कोटि सेना लेकर मथुरापुरी को घेर लिया। उस यवन के घेरे से भगवान् भी चिंतित से हो गये। वे सोचने लगे—"यादवोंके द्वारा तो कालयवन जीता नहीं जा सकता। इससे युद्ध करना अपनी हानि करना ही है। जरासन्ध भी आने वाला है। अब किया क्या जाय?"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह कालयवन इतना बली कैसे हो गया। जो भगवान् अच्युत और अपराजित कहलाते हैं, वे भी इससे युद्ध करने में क्यों संकोच करने लगे!"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"महाराज! भगवान् का तो यह सब खेल है! वे दूसरों का सम्मान देने को अपनी हार स्वीकार कर लेते हैं। बात यह थी कि कालयवन यादवों के पुरोहित वृद्ध गर्ग का पुत्र था। वह गर्गजी ने इसी संकल्प से पैदा किया था कि यादवों के लिये भयावह हो, यादव उसे किसी प्रकार भी न जीत सकें। इसीलिये भगवान् ने उसका

किया।"

आश्चर्य प्रकट करते हुए शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! महर्षि गर्ग का पुत्र यवन कैसे हो गया? फिर वे तो यादवों के कुलगुरु ही थे, उन्होंने यादवों को भय देने वाला पुत्र क्यों पैदा किया ? कृपा करके इन बातों को बतावें तब आगे की कथा कहें।"

सूतजी बोले—"महाराज ! भवितव्यता सब करा लेती है, उसके सम्मुख मनुष्य की कुछ भी नहीं चलती। कभी कभी हँसी विनोद में ऐसी घटना घटित हो जाती है, जिसका प्रभाव बहुत भयंकर हो जाता है। बात यह थी, कि ये वृद्ध गर्ग मुनि यादवों के कुलगुरु थे। बड़े प्रतापी तपस्वी सत्यवादी और धर्मात्मा थे। ज्योतिष शास्त्र के तो आचार्य ही थे। एक बार इन्होंने ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करके घोर तप आरम्भ किया। वे अपनी पत्नी से पृथक रहते थे और नियमानुसार अनुष्ठान करते थे। एक दिन वे यादवों की सभा में आये। सभी मुख्य मुख्य यादव सभा में बैठे थे। सबने उठकर अपने कुलगुरु गर्गजी का स्वागत सत्कार किया, सुन्दर आसन पर बिठाया। उस सभा में गर्गजी का साला भी बैठा था। साले बहनोई का सम्बन्ध तो हँसी विनोद का होता ही है। गर्गजी के सालेने बड़े व्यङ्ग से कहा—"ये तो नपुंसक हैं नपुंसक।" इस बात को सुनकर जितने यादव थे, वे सब ठठाका मारकर हँसने लगे। वैसे बात तो हँसीकी थी, किन्तु समय की बात, गर्गजी को बहुत बुरी लगी। उन्होंने सोचा—"यह तो हमारा साला था, इसने कहा तो कोई बात नहीं, किन्तु ये हमारे शिष्य हैं, इन्होंने मेरी हँसी क्यों उड़ाई। अच्छी बात है, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं भी उन्हें दिखा दूँगा कि मैं कैसा नपुंसक हूँ मैं ऐसा पुत्र उत्पन्न करूँगा, जिसे युद्ध में कोई भी न हरा सके और यादवों के लिये वह अत्यन्त भयावह हो।"

ऐसा निश्चय करके वे तपस्या करने वन में चले गये। ऐसे

कामों के लिये सभी आशुतोष भगवान् भूतनाथ की आराधना करते हैं। गर्गजी ने भी सदाशिव भोलेनाथ की आराधना करनी आरम्भ कर दी। कुछ ही दिनों में शिवजी सन्तुष्ट हुए और वर माँगने को कहा। तब गर्गजी बोले—"महाराज मेरा एक ऐसा पुत्र हो, जिसे समर में कोई जीत न सके, और जो यादवों के लिये अत्यन्त भय देने वाला हो।"

शिवजी तो भोलेनाथ ही ठहरे। वे वर देते समय यह विचार नहीं करते कि इस वर का प्रभाव कहाँ तक पड़ेगा। जिसने जो माँगा तुरन्त दे दिया, चाहे पीछे उससे अपने ही को सङ्कट क्यों न हो। इसीलिये उन्हें सब औघड़दानी कहते हैं। उन्होंने कह दिया—"अच्छी बात है ऐसा ही होगा। तुम्हारा पुत्र सबसे समर में विजय प्राप्त करेगा।"

इस वर को प्राप्त करके वे वहाँ से चले। यह समाचार यवनों के वृद्ध राजा ने सुना। ये यवन पहिले वर्णाश्रमी वैदिक धर्मावलम्बी ही थे। आपस में कुछ अनबन होने से राजाओं ने इन्हें वेद बहिष्कृत कर दिया और ये पश्चिम में अपने उपनिवेश बनाकर रहने लगे। फिर भी उनके संस्कार तो सब यहीं के थे। उन्होंने सोचा—"यदि वृद्ध गर्ग मेरी रानी में पुत्र उत्पन्न करें तो मुझे समर विजयी शूर पुत्र प्राप्त हो जाय।" यही सोचकर वे अनुनय विनय करके गर्गजी को अपने यहाँ ले आये और उनसे प्रार्थना की—"महान्! मेरी रानियों में आप एक परम शूरवीर तेजस्वी पुत्र उत्पन्न करें।"

यवनराज की प्रार्थना महामुनि गर्ग ने स्वीकार की। उनकी रानियों में से जो एक गोपाली थी, उसमें उन्होंने इस काल को उत्पन्न किया। कुछ काल में यह वयस्क हो [illegible] राजा राजपाट इसे देकर वन में तपस्या करने च[illegible] यवन बड़ा बली और समर विजयी था। कोई

सामना नहीं कर सकता था। उसने अपनी बड़ी भारी सेना एकत्रित की और आसपास के समस्त राजाओं को जातकर वह उन सबका अधिप बन गया। जितने शक, तुषार, दरद, पारद, तङ्गण, खश, पल्हव, हेमवत तथा और भी सैकड़ों प्रकार के म्लेच्छ जाति के राजाओं को उसने अपने आधीन कर लिया। उन्हें अपने वश में करके और उन सबकी बड़ी भारी सेना लेकर वह भारतवर्ष में आया। इसके तेज और प्रभाव के सम्मुख कोई भी राजा ठहरता नहीं था। सब जानते थे कि वरदान के प्रभाव से इसे कोई जीत नहीं सकता। जब किसी ने भी इसका सामना नहीं किया तो यह इधर उधर घूमने लगा। दैवयोग से उसे देवर्षि नारदजी मिल गये। उसने देवर्षि को प्रणाम किया। कुशल प्रश्न के अनन्तर नारदजी ने पूछा—"राजन्! आप कहाँ जा रहे हैं ?"

उसने कहा—"ब्रह्मन्! क्या बताऊँ युद्ध के लिये मेरे हाथ खुजा रहे हैं, कोई युद्ध करने को ही नहीं मिलता। कोई ऐसा बताइये जो हमसे युद्ध कर सके।"

नारदजी को तो इधर उधर भिड़ाने में आनन्द ही आता है, आप बोले—"अजी, राजन्! आप कहाँ इधर उधर भटक रहे हैं। आजकल तो यादवों का ही बोलबाला है। देखो, सम्राट् जरासन्ध को उन्होंने सत्रह बार पराजित किया।"

यह सुनकर वह प्रसन्न होकर म्लेच्छों की सेना लेकर माथुर प्रदेश की ओर चल दिया और सब ओर से उसने जाकर मथुरापुरी को घेर लिया। भगवान् तो सब कुछ जानते थे। अतः वे अपने बड़े भाई बलदेवजी से एकान्त में सम्मति करने लगे। उन्होंने कहा—"भैया! अब हमें क्या करना चाहिये ?"

बलदेवजी ने कहा—"करना क्या चाहिये। इस यवन से लड़ेंगे। इसे युद्ध में परास्त करेंगे।"

भगवान् बोले—"दादा! यह दुष्ट ऐसे मरने वाला नहीं।

इसकी सेना भी बहुत बड़ी है और यह यादवों के हाथ मारा भी नहीं जा सकता। मान लो आप इससे युद्ध करने में फँस जायँ और इतने में ही जरासन्ध आ जाय, तो फिर आप क्या करेंगे ? वह दुष्ट आकर या तो हमारे सब बन्धु बान्धवों को मार डालेगा या बाँधकर अपनी राजधानी में ले जायगा। अब वह दो एक दिन में आने ही वाला है। यादवों की तो उस लकड़ी के कीड़ों की सी दशा हो गई जिसके दोनों ओर आग लग गई हो।

तब बलदेवजी ने कहा—"तब तू ही भैया कोई उपाय बता।"

भगवान् ने कहा—"दादा! मेरी इच्छा तो यह है कि अब घर द्वार के मोह को छोड़कर यहाँ से भाग चलो।"

बलदेवजी ने कहा—"अरे, भैया! ऐसे डरकर भागना उचित नहीं। इससे क्षत्रियों में हमारी बड़ी निन्दा होगी। सब लोग हमारा बड़ा अपमान करेंगे।"

भगवान् ने कहा—"दादा! अपमान को आगे करके और सम्मान को पीछे ढकेल कर बुद्धिमान पुरुष को अपना कार्य साध लेना चाहिये। जैसे बने तैसे अपने कार्य को साध लेना ही बुद्धिमत्ता है और थोड़े अभिमान के वशीभूत होकर स्वार्थ का नाश कर देना यही सबसे बड़ी मूर्खता है। "इसीलिये अब भागने में आगा पीछा न करना चाहिये। अब तो भागने में ही कल्याण है।"

बलदेवजी ने कहा—"अच्छा, मान लो मथुरा को छोड़कर भाग ही चलें तो भाग कर जायँगे कहाँ। जहाँ भी जायँगे ये कालयवन और जरासन्ध वहीं हमारा पीछा करेंगे।"

भगवान् ने कहा—"देखिये! आनर्त देश में एक बहुत प्राचीन राजधानी है कुशस्थली। जिसका नाम द्वारका भी है। वह समुद्र के बीच है। वहाँ एक सत्ययुग का बहुत प्राचीन किला

भी पड़ा है। पहिले महाराज रैवत यहाँ राज्य करते थे। वे इक्ष्वाकु वंश के बड़े प्रतापी राजा थे। उनके ब्रह्मलोक में चले जाने पर उनके वंशजों को गन्धर्वों ने मार डाला। अब उनका वह किला वैसे ही पड़ा है। उसके चारों ओर समुद्र है, अत्यन्त ही सुरक्षित स्थान है। वहीं जाकर हम किला बनावें। उसमें पुरुषों की तो बात पृथक् रही, स्त्रियाँ भी उसमें बैठकर युद्ध कर सकेंगी और अपने शत्रु को भगा सकेंगी।"

बलदेवजी ने कहा—"अच्छी बात है भैया! जैसी तुम्हारी इच्छा। फिर इस यवन को ऐसे ही जीवित छोड़ जाओगे, यादवों को वहाँ कैसे पहुँचाओगे? दुर्ग कब तक बन सकेगा?"

भगवान् ने कहा—"आप इन बातों की तनिक भी चिन्ता न करें। विश्वकर्मा से कहकर दुर्ग तो मैं अभी बनवाता हूँ। योग माया के द्वारा अपने कुटुम्बी समस्त यादवों को सपरिवार मैं वहाँ पहुँचाये देता हूँ। फिर हम और आप दोनों रह जायँगे। इस कालयवन को भी तिकड़म से मरवा देंगे और इस मथुरापुरी को छोड़कर द्वारका में ही रहने लगेंगे।"

बलदेवजी ने कहा—"अच्छी बात है, तुम्हें जो उचित जान पड़े वही करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बलदेवजी से पूछकर भगवान् ने कुशस्थली में समुद्र के बीच में बारह योजन (अड़तालीस कोश) का एक बड़ा भारी किला बनवाया। विश्वकर्मा ने उस किले को बनाया था। अपनी सम्पूर्ण कला कौशल उसने उसकी रचना में प्रकट किया था। सर्वत्र शिल्पियों के राजा विश्वकर्मा की विज्ञान निपुणता और शिल्प चातुरी स्पष्ट दिखायी देती थी। उसमें बड़े बड़े राज मार्ग चौराये, गलियाँ, बाग, बगीचा, वापी कूप, तड़ाग, सभा भवन, गोपुर, द्वार तथा आमोद प्रमोद के स्थान बने हुए थे। बगीचाओं में देव वृक्ष तथा पल्लवित पुष्पित लतायें

लगी हुई थी। बड़े बड़े वितान तने हुए थे। गगनस्पर्शी सुवर्ण शिखरों और स्फटिक मणियों के चौबारों से वहाँ के द्वारों की शोभा शतगुणी हो रही थी। वहाँ के भव्य भवन सुवर्ण के बने हुए थे, उन घरों के प्राङ्गण में मरकत मणियाँ जड़ी हुई थीं। द्वारों पर सुवर्ण के कलश रखे हुए थे। अश्वशालायें, रथशालायें, गजशालायें तथा अन्नादि के कोष्ठ पृथक्-पृथक् बने हुए थे। बड़े बड़े ऊँचे शिखरों वाले मंदिरों तथा चन्द्रशालाओं से उस पुरी की शोभा अत्यंत ही बढ़ गई थी। उसमें चारों वर्ण के लोगों के निवास स्थान पृथक् पृथक् बने हुए थे। पुरी के बीच में आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण, चन्द्रजी का अत्यन्त ही भव्य भवन बना हुआ था। देवताओं ने देखा भगवान् नई नगरी का निर्माण कर रहे हैं। हमसे भी कुछ सेवा बन सके तो करें।" यह सोचकर इन्द्र ने अपनी सुधर्मा नामक सभा भेज दी। जिसमें बैठने से भूख, प्यास, जरा मृत्यु तथा शोक, मोह किसी को भी नहीं होते थे। उसमें चाहे जितने लोग बैठ जायँ वह अपने आप छोटी बड़ी हो जाती थी। वरुणजी ने मन के वेग के समान चलने वाले बहुत से श्यामकर्ण घोड़े भेज दिये। कुबेरजी ने अपनी आठों निधियों को भेजा। इस प्रकार सभी लोकपालों ने अपने यहाँ जो भी अच्छी से अच्छी वस्तु थी, वह भेज दी। वह पुरी समस्त विभूतियों से युक्त बन गई। भगवान् ने अपनी योगमाया से अपने सम्पूर्ण पुरवासी बन्धु बान्धवों को उस पुरी में पहुँचा दिया। जब सब यादव सकुशल परिवार सहित द्वारकापुरी में पहुँच गये, तो भगवान् ने सोचा—"अब चिन्ता करने की कोई बात नहीं। अब कालयवन या जरासन्ध कोई भी क्यों न आ जाय। किसी का बाल बाँका भी नहीं कर सकता" यह सोचकर भगवान् स्वयं भी बलदेवजी से पूछकर भागे। अब किस प्रकार भगवान् युक्ति से भगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

बलदाऊ तें पूछि उदधि महँ पुरी बनाई।
द्वादश योजन दुर्ग नीर निधि ताकी खाई॥
दई सुधर्मा सभा इन्द्र ने अति सुखदाई।
करी समर्पित सिद्धि सुरनि जो हरि तें पाई॥
सुर शिल्पी नगरी रची, शोभा मूर्तिमती जहाँ।
पहुँचाये हरि योग बल, तें यादव सबई तहाँ॥

रणछोड़का रण छोड़कर भागना और कालयवनका अन्त

(१०८१)

प्रजापालेन रामेण कृष्णः समनुमन्त्रितः ।
निर्जगाम पुरद्वारात् पद्ममाली निरायुधः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५० अ० ५८ श्लो०)

छप्पय

सबनि द्वारका भेजि भगे भगवान् भगोड़े ।
मथुरा के घर द्वार सभा सरवर सब छोड़े ॥
कमल कुसुम गल माल निरायुध भागे नटवर ।
कालयवन पहिचान भग्यो पीछें बिनु धनुसर ॥
कहे—'अरे यादव अधम, कायर सम भागे कहाँ ।
चलि पीछो तेरो करूँ, भगिकें तू जावे जहाँ ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र प्रजापालक श्रीबलदेवजी से सम्मति लेकर नगर के द्वार से बाहर निकले। वे निरायुध थे और पद्म की माला पहिने हुए थे।"

सन्देह अल्पज्ञता में है। दुःख अपूर्ण में है। जो सर्वज्ञ है उसके सभी के सभी का सन्देह रहित है, पूर्ण काम को सदा सुख ही सुख है, उसके लिये न कोई बुरा काम है न अच्छा। वह सबके परिणाम को जानता है, सबकी प्रारब्ध को जानता है, सबके कारण, प्रारब्ध और भाग्य से परिचित है वह जो भी करेगा उचित करेगा, वही करेगा जो होनेवाला होगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने सुहृद् बन्धु बान्धवों को द्वारका पहुँचाकर बलराम जी और श्रीकृष्णजी ही मथुरापुरी में रह गये। कालयवन को यह पता नहीं था कि पुरी खाली हो गई है। वह प्रधान द्वार पर अपने डेरा डाले पड़ा था। वह युद्ध धर्म को जानने वाला था। उसे धन का लोभ तो था ही नहीं। वह तो कीर्ति का लोलुप था। उसे तो यादवों को जीतना था। जब तक अस्त्र शस्त्र लेकर प्रतिद्वंदी सम्मुख न आवे, तब तक वह प्रहार कैसे कर सकता था। मथुरा का घेरा डाले वह इसी आशा में पड़ा था कि यादवों को अपने बल का बड़ा अभिमान है। वे अपने को शूरमानी लगाते हैं। युद्धोत्सुक मुझे देखकर वे अवश्य नगरी से निकलकर अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर आवेंगे। तब मैं उनके साथ युद्ध करूँगा। वह सुसज्जित सेना के निकलने की बाट जोह रहा था, किन्तु तब उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब उसने बिना अस्त्र शस्त्र के हँसते हुए वनमाली को नगर के प्रधान द्वार से भयभीतों की भाँति भागते देखा।

भगवान् के सौन्दर्य के विषय में तो कहना ही क्या है। वे नूतन घन के सदृश स्वयं श्यामवर्ण के थे। सुन्दर सुहावने शरीर

पर पीताम्बर धारण किये हुए थे। वक्षःस्थल में श्रीवत्स और कौस्तुभ मणि सुशोभित थी। कमल के समान उत्फुल्ल उनके नेत्र थे। जिनमें अरुण वरण के डोरे पड़े हुए थे। जो देखने वालों के चित्त को हठात् अपनी ओर आकर्षित करते थे। सुकपोल युक्त मनोहर
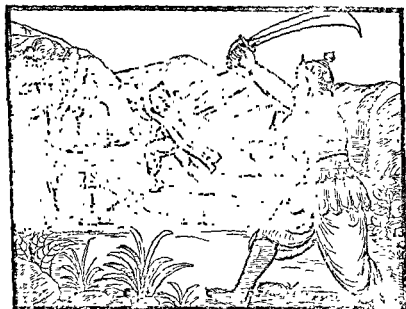
मुख मंद मंद मुसकान से सुशोभित था। कानों में के मकराकृति कुण्डल हिल हिलकर कपोल की श्री को बढ़ा रहे थे। चारों सडौल सुन्दर भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म ये अस्त्र सुशोभित हो रहे थे। कालयवन इन अद्भुत पुरुष को देखकर परम विस्मित हुआ। उसे यह निर्णय करने में विलंब नहीं हुआ कि वसुदेवनंदन श्रीकृष्णचन्द्र ये ही हैं। नारदजी ने प्रथम ही उसे भगवान के दिव्य स्वरूपका परिचय करा दिया था। नारदने जो जो चिह्न भगवानके बताये थे, वे सब उनमें दिखाई दिये। वैसा ही पीतपट,

वक्षःस्थल पर वैसा ही श्रीवत्स लांछन है। वनमाला, मकराकृति कुण्डल, अरुण नयन, चतुर्भुज और घन के सदृश श्याम सभी बातें तो इसमें मिलती हैं। अवश्य यह कृष्ण ही है, किन्तु हमने तो इसकी वीरता की बड़ी प्रशंसा सुनी थी। सुना था इसने बड़े बड़े असुरों को बिना अस्त्र शस्त्र के ही मार डाला। कंस को भरी सभा में चोटी पकड़कर पछाड़ डाला। किन्तु अब तो यह भयभीत सा दिखाई देता है. इसके हाथ में कोई अस्त्र शस्त्र भी नहीं। साथ में सेना भी नहीं। मैं तो इसी से लड़ने आया था। यह तो चोर की भाँति भागने का उपक्रम कर रहा है। फिर भी इसका साहस तो देखो, भागना भी चाहता है, तो मेरे सम्मुख ही। अच्छा जब यह निरस्त्र है, तो मैं भी शस्त्र रहित होकर इसका पीछा करूँगा। इसे द्वन्द युद्ध के लिये ललकारूँगा। यह सोचकर उसने वहीं से पुकारा—"अरे, कृष्ण ! अरे, तू भगोड़ों की भाँति कहाँ भागता हुआ जा रहा है। आ तू मुझसे द्वंद युद्ध कर।" यह सुनकर अखिल ब्रह्माण्ड नायक रण छोड़ भगवान् मुट्ठी बाँध कर भगे। कालयवन ने भी उनका पीछा किया। वह उन्हें दौड़कर—अपने बल पुरुषार्थ से—पकड़ना चाहता था, किन्तु जिन्हें सहस्रों वर्ष की समाधि लगाकर योगिजन भी कठिनता से वश में कर सकते हैं, उन्हें यह मूर्ख दौड़कर पकड़ना चाहता है, माया मोहित मानव का यही मोह जनित पुरुषार्थ है। कालयवन को ऐसा प्रतीत होता था कि दो पैर बढ़ते ही मैं इन्हे पकड़ता हूँ, कभी कभी तो उसके हाथ से पीताम्बर का छोर छू जाता। इससे उसका उत्साह और भी बढ़ता इस कारण वह अधिक वेगसे भगता, किन्तु ये तो बड़े कांइयां ठहरे भूल भुलैया देते देते उसे अकेले ही धौलपुर तक भगाये ले गये। वह मूर्ख भी मत्युके अधीन होकर घन कालरूप भगवानके पीछे-पीछे दौड़ा ही गया।

आगे चलकर उसे ऐसा प्रतीत होने लगा कि कृष्ण अब श्रांत

हो गया है, अब यह अधिक दौड़ नहीं सकता। उसे विश्वास हो गया कि मैं अब इसे अवश्य पकड़ लूँगा। वह बार बार कहता जाता था—"अरे, यादवोंमें अधम! कृष्ण! तुझे इस प्रकार रण छोड़ कर भागना उचित नहीं है। तुझमें यदि कुछ भी बल हो तो खड़ा होकर मुझसे युद्ध कर।" किन्तु श्रीकृष्ण उसकी एक भी बात नहीं सुनते थे। इस कानसे सुनी उस कानसे निकाल दी। "सौ सौ कहीं किन्तु लुक्क पर ही लई।" भगवान् सोचते थे— "बकते रहो बच्चूजी! अभी तुम्हें दाल आटेका भाव मालूम पड़ता है।" यह सोचकर वे भागते ही जाते थे। आगे उन्हें एक छोटासा पर्वत दिखाई दिया उसकी एक लम्बीसी गुफा थी. भगवान् झटपट उसमें घुस गये।

कालयवन दूरसे देख रहा था, उसने सोचा—"अब बस, आ गया यह हाथ में। इस गुफासे निकलकर तो कहीं जा नहीं सकता। यह सोचता होगा—"मैं इसे देख नहीं रहा हूँ। इस गुफामें छिपनेसे मेरे प्राण बच जायँगे, किन्तु अब तो मैं गुफामें घुसकर इसका अन्त कर दूँगा।" यह सोचकर वह भी गुफामें घुस गया।

भगवान् तो प्रथम श्रेणीके ठगिया ठहरे। उस गुफामें घुसते ही उन्हें एक बड़े डील डौलका पुरुष सोता हुआ दिखाई दिया। आपने अपना पीताम्बर झटपट उतार कर उसे उढ़ा दिया और आप एक कोने में छिप गये। अन्धकार भी काला था, श्रीकृष्ण भी काले थे, काले में काला मिल गया। तब तक ही कालयवन भी आ पहुँचा। वह प्रकाश से गुफा में आया था। इतनी दूर दौड़ते दौड़ते थक भी गया था। गुफा में उसे अंधकार ही अंधकार दिखाई दिया। कुछ देर में उसे पीताम्बर दिखाई दिया। अब तो उसने अनुमान लगा लिया। अवश्य ही श्रीकृष्ण पीतांबर ओढ़कर यहाँ सो गया है। वह मूर्ख हँसा और सोचने लगा—

इस छलियाने मुझे कितना ठगा है। इतनी दूर तक मुझे दौड़ाकर थका लिया और अब स्वयं साधुके समान बनकर सुखसे सोया हुआ है। अभी मैं इसको इसके किये का फल चखाता हूँ" यह सोचकर उसने आवेशमें भरकर सम्पूर्ण बल लगाकर उस सोते हुए पुरुषके शरीर में एक लात मारी। लात लगते ही वह चिर कालका सोया हुआ दीर्घ काय पुरुष शनैः शनैः उठा और आँखों को मलता हुआ इधर उधर देखने लगा।

उसने अपने सम्मुख कालयवन को खड़े हुए देखा। उसे देखते ही उस पुरुष की आँखें क्रोध से लाल लाल होकर जलने लगीं मानों उन में से अग्निकी चिनगारियाँ निकल रही हों। उसने क्रोधभरी दृष्टि से ज्यों ही कालयवन की ओर देखा त्यों ही वह भस्म होकर तत्काल पृथिवी पर गिर पड़ा और सदा के लिये इस लोक से विदा हो गया।

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वह विचित्र पुरुष कौन था? किसका पुत्र था? यहाँ क्यों सो रहा था? इसकी दृष्टिमें ऐसा तेज कैसे आ गया कि इसके देखते ही पृथिवीके समस्त राजाओं को जीतने वाला इतना भारी शूर वीर पराक्रमी कालयवन भस्म होकर गिर गया? कृपा करके इस विचित्र पुरुष का परिचय हमें कराइये, तब आगे की कथा सुनाइये।

सूतजीने कहा—"महाराज! ये इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न महाराज मान्धाताके पुत्र परम बली, ब्राह्मणों के भक्त सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रजापालक महाराज मुचुकुन्द थे। ये आदि सत्ययुग से ही यहाँ सो रहे थे। इनकी कथा बड़ी ही अद्भुत है, इसे मैं आपको सुनाऊँगा। आप दत्त चित्त होकर श्रवण करें।

महाराज मुचुकुन्द का परिचय

(१०८२)

स इक्ष्वाकुकुले जातो मान्धातृतनयो महान् ।
मुचुकुन्द इति ख्यातो ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ॥❀

(श्री भा० १० स्क० ५१ अ० १४ श्लो०)

छप्पय

वे नरवर मुचुकुन्द धेनु द्विज सुर हितकारी ।
असुरनि सतयुग प्रथम माँहि सुर सेन सँहारी ॥
गये लड़न भूपाल गये जब देव शरन महँ ।
मारि भगाये असुर भये विजयी सुर रन महँ ॥
देवनि वर माँगन कह्यो, माँगी निद्रा भूपवर ।
करै विघन मम नींद महँ, सो तत छिन मरि जाय नर ॥

सबके कार्यक्षेत्र बँधे रहते हैं, जो जिस कार्य के लिये भगवान् की ओर से भेजा गया है, उसकी उसीमें प्रवृत्ति हो जाती है, वैसी ही मति हो जाती है, यदि किसी को सार्वजनिक काम के लिये उत्पन्न किया है, तो वह कितना भी छिपना चाहे कहीं भी

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जिनकी दृष्टि से कालयवन भस्म हुआ था वे ब्राह्मणों के भक्त सत्य प्रतिज्ञ महाराज मुचुकुन्द थे, जो इक्ष्वाकु कुलोत्पन्न महाराज मान्धाता के पुत्र थे।"

चला जाय, वहीं उसके लिये वैसा ही संयोग बन जायगा। जड़ भरतजी कैसा विकृत वेष बनाकर पागलों की भाँति घूमते थे, किन्तु महाराज रहूगण को उन्हें ज्ञान देने का काम था, वैसा ही संयोग जुट गया और उन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश देना। मनुष्य कहीं भी छिप जाय औरों की दृष्टि से छिप सकता है, किन्तु भगवान् की दृष्टि से तो नहीं छिप सकता, क्योंकि वे सर्वदृक् हैं सर्वज्ञ हैं। उनसे कोई कहीं भी नहीं छिप सकता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे महाराज मुचुकुन्द का परिचय पूछा था, उनके वंश का परिचय तो मैं पीछे दे ही चुका हूँ। सूर्यवंशी महाराज इक्ष्वाकु के वंश में एक परम प्रतापी युवनाश्व नामक राजा हो चुके हैं। उन्होंने भूल से पुत्रेष्टि यज्ञ का अभिमंत्रित जल पी लिया था, अतः उनकी कुक्षी को फाड़ कर महाराज मान्धाता उत्पन्न हुए। महाराज मान्धाता सूरवीर धर्मात्मा और ब्राह्मण भक्त थे। उन्होंने महाराज शशविंदु की पुत्री बिन्दुमती से विवाह किया। उसके गर्भ से पुरुकुत्स, अंबरीष और योगिराज महाराज मुचुकुन्द का जन्म हुआ। मुचुकुन्द जन्म ही से विशिष्ट शक्ति सम्पन्न थे। वे स्वेच्छा से स्वर्गादि लोकों में जा आ सकते थे। शस्त्र विद्या में उनके समान त्रिलोक में कोई नहीं था। उस समय देवताओं और असुरोंमें बड़ा घनघोर युद्ध छिड़ा हुआ था। असुर बड़े बली थे, उन्होंने देवताओं को दबा दिया। उनके प्रवल प्रहारों को न सह सकने के कारण देवता अत्यन्त ही त्रस्त हुए। युद्ध का जय पराजय सेनापति के ऊपर निर्भर है। यदि सेनापति वीर, उत्साही, कुशल और बुद्धिमान हुआ तो वह अल्प सेना से भी विजय कर सकता है। यदि सेना पति अयोग्य हुआ तो कितनी भी सेना क्यों न हो, उसकी विजय में संदेह ही बना रहता है। उस समय देवताओं के पास कोई योग्य सेनापति नहीं था। उन्होंने महाराज मुचुकुन्द के बल पौरुष

और कार्य कुशलता की बड़ी ख्याति सुनी थी, अतः सब देवता मिलकर उनके समीप गये और बोले—"राजन! आप हमारे सेनापति बन जाइये। असुरों ने हमें त्रस्त कर रखा है।"

महाराज मुचुकुन्द ने कहा—"जो दुखियों के दुख को दूर करे वही क्षत्रिय है। आप लोग अब मेरी शरण में आये हैं, तो मैं अवश्य ही आपका सेनापति बनूँगा और असुरों से आपकी रक्षा करूँगा।" यह कहकर महाराज देवताओं के साथ गये और उनके सेनापति बनकर चिर काल तक देवताओं की रक्षा करते रहे।

कुछ काल के अनन्तर भगवान् शंकर के वीर्य से कुमार कार्तिकेय का जन्म हुआ। देवता उनके बल, पराक्रम, प्रभाव और ऐश्वर्य को देखकर मुग्ध हो गये और उन्हें अपनी सेना का स्थायी सेनापति बना दिया। कार्तिकेय जी ने बड़ी बुद्धिमत्ता से सुर-सेना का संचालन किया। मुचुकुन्दजी की अब आवश्यकता नहीं रही। अतः देवताओं ने उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"राजन्! आपका कल्याण हो। आपने बड़ा परिश्रम किया। बहुत दिनों तक आपने हमारी रक्षा की विपत्ति के समय आप हमारी सहायता न करते तो हमें अवश्य ही स्वर्ग से भ्रष्ट होना पड़ता। अब आप कुछ दिन विश्राम करें, हमारी रक्षा के कष्ट से अब आप निवृत्त हों।

महाराज मुचुकुन्द ने कहा—"देवताओ! आपकी आज्ञा से मैंने आपकी जो कुछ मुझसे यत्किंचित सेवा बन सकी, वह की अब आपको मेरी आवश्यकता नहीं है तो मैं अपनी राजधानी को लौटा जाता हूँ।"

हँसकर देवताओं ने कहा—"राजन! आपका त्याग श्लाघनीय है। आपने पृथिवी के निष्कंटक राज, सम्पूर्ण विपुल भोग हमारे लिये त्याग दिये। अब आप फिर अपनी राजधानी में लौटना

चाहते हैं, किन्तु अब तो आपकी राजधानी का पृथिवी पर चिह्न भी नहीं रहा।"

महाराज ने पूछा—"देवताओ! मेरी राजधानी कहाँ चली गई। मेरे बन्धु बान्धव कहाँ गये?

देवताओं ने कहा—"राजन्! आप इतने दिनों तक स्वर्ग में रहे। मनुष्यों के ३६० वर्षों का हमारा एक वर्ष होता है। आप सहस्रों वर्षों तक स्वर्ग में रहकर हमारी रक्षा करते रहे। तबसे तो पृथिवी पर कई युग बीत गये। अब आपके पुत्र, स्त्री, जाति बन्धु, अमात्य तथा मंत्रियों में से तथा आपके सामने की प्रजा वर्गों में से कोई भी अब पृथिवी पर नहीं, वे सब काल के कवल बन गये। सब पञ्चतत्व को प्राप्त हो गये।

आश्चर्य के स्वर में महाराज मुचुकुन्द ने कहा—"अरे, यह काल की कैसी कुटिल गति है। सबके सब समाप्त हो गये? कोई भी नहीं बचा?"

देवताओं ने कहा—"राजन्! यह काल विश्व के समस्त बलवानों में बली है। यही अच्युत अविनाशी अपराजित ईश्वर है। काल के सम्मुख किसी की भी नहीं चलती। सभी को इसने अपने अधीन कर रखा है। मदारी जैसे बन्दरों को खिलाड़ी जैसे कठपुतलियों को और पशुपाल जैसे पशुओं को नचाता है, जैसे ही यह काल प्राणिमात्र को नचा रहा है। यह काल ही समस्त संसार का खेल ही खेल में नियन्त्रण कर रहा है।

मुचुकुन्द ने कहा—"देवताओ! जब यही बात है पृथिवी पर मेरा कोई सगा सम्बन्धी शेष ही नहीं तो मैं वहाँ जाकर भी क्या करूँगा। आप मुझे कोई मार्ग बताइये?'

देवताओं ने कहा—"राजन्! आपने हमारी रक्षा में बड़े-बड़े कष्ट उठाये। रात्रि रात्रि भर युद्ध करके आपने हमारी रक्षा की है। आपको जिससे सुख हो ऐसा कोई मनोभिलषित वर

हम से माँगें, किन्तु देखिये मोक्ष न माँगियेगा। मोक्ष देने का अधिकार हमें है ही नहीं। मोक्ष के तो एक मात्र स्वामी भगवान् विष्णु ही हैं मोक्ष देने में तो वे ही मोक्षपति अधोक्षज सर्वत्र समर्थ हैं।"

महाराज मुचुकुन्द ने यह सुनकर नम्रता पूर्वक देवताओं को प्रणाम करके कहा—"देवताओ! तुम यदि मुझे मोक्ष नहीं दे सकते, तो गहरी निद्रा का ही वर दो। निद्रा में भी सब इन्द्रियाँ शिथिल होकर विश्राम करती हैं, चिन्तायें नष्ट हो जाती हैं, श्रम मिट जाता है, शरीर हलका हो जाता है। मैं थक भी बहुत गया हूँ।"

देवताओं ने कहा—"अच्छी बात है, राजन्! हमने आपको गहरी निद्रा का वर दिया।"

महाराज मुचुकुन्द बोले—"यदि किसी ने मुझे बीच में ही जगा दिया तो?"

देवता बोले—"जो बीच में आपको जगावेगा, वह अपनी करनी का फल पावेगा। वह अज्ञ आपकी दृष्टि पड़ते ही भस्म हो जावेगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार देवताओं से वर प्राप्त करके महाराज मुचुकुन्द इस गुफा में आकर सोते ही रहे। सोते सोते उन्हें कितने युग बीत गये, इसका उन्हें भी पता नहीं था किन्तु परमात्मा भगवान वासुदेव को तो सब पता ही था, उनसे तो कोई बात छिपी ही नहीं रहती इसलिए कालयवन को भगाते भगाते यहाँ तक ले आये। आपने सोचा—ऐसा यत्न करना चाहिये जिससे "साँप मरे न लाठी टूटे" हमें लड़ना भिड़ना भी न पड़े और यह यवन मर भी जा जाय।" इसके लिये उन्होंने यही उपाय सोचा और वह उपाय सफल भी हुआ। कालयवन मुचुकुन्द की दृष्टि पड़ते ही मरकर भस्म होकर गिर गया।

जब कालयवन मर गया और महाराज मुचुकुन्द का क्रोध शान्त हो गया, तो हँसते हुए वनमाली गिरिगोवर्धनधारी भगवान् वासुदेव ने उसे दर्शन दिया। भगवान् की परमदर्शनीय शोभाको देखकर मन्धातानन्दन महाराज मुचुकुन्द परम विस्मित हुए। उन्होंने देखा, अपनी प्यारी प्यारी चारु चितवन से चित्तको चुराते हुए घनश्याम हँस रहे हैं। वे अति सूक्ष्म रेशमी पीताम्बर को धारण किये हुए हैं, श्रीवत्स, कौस्तुभमणि, वनमाला, कंकण, कुण्डल, हार, केयूर, मणिमयमुकुट अन्य वस्त्राभूषणों से वे सुसज्जित हैं। हठात् सबके मनको अपनी ओर आकर्षितकर लेते थे। उनकी आते सुन्दर तरुण अवस्था और मत्त मृगराज के सदृश उदार विक्रम था। भगवान् के उस दुर्धर्ष परमतेजयुक्त दिव्यस्वरूप को देखकर महाबुद्धिमान महाराज मुचुकुन्द ने मन ही मन तर्कना की और फिर हाँ संकोच सहित उनसे वार्तालाप करनी आरम्भ की। अब दोनों में जैसे बातें हुईं। उस प्रकरण को मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

एवमस्तु कहि सुरनि समर्थन नृपको कीन्हों।
अमित भूपकूँ गाढ़ नींदको मिलि बर दीन्हों॥
सोये तबतें गुफा माँहि बहु वरष बिताये।
कालयवनको अन्त करावन हरि तहँ आये॥
भस्म यवन जब है गयो, तब दरशन नटवर दयो।
लखि अति सुन्दर सुघर नर, भूपति अति विस्मित भयो॥

मुचुकुन्द और माधव

(१०८३)

विमोहितोऽयं जन ईश मायया
त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक्।
सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते
गृहेषु योषित् पुरुषश्च वञ्चितः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५१ अ० ४६ श्लो०)

छप्पय

पूछत विनयावनत नृपति डरपत अति बोलत।
प्रभु अति कोमल चरन कठिन महि पै क्यों डोलत॥
हो त्रिदेव महँ एक अपर सुर अथवा स्वामी।
अथवा अज अखिलेश अमरपति अन्तरयामी॥
हौं मान्धाता नृप तनय, मोइ कहैं मुचुकुन्द सब।
गुर गर लहि सोवत रह्यो, देवें परिचय आपु अब॥

जीव भगवान् को भूलकर मोह रूपी गाढ़ निद्रा में सोता रहता है। जब भगवान् ही आकर उसे जगाते हैं, तब वह जागता है। जागने पर भी जिनको नहीं पहिचानता। उन्हीं से उनका

---

*मुचुकुन्द ने कहा—"हे ईश! माया से मोहित ये नर नारी आपका भजन नहीं करते। क्योंकि ये अनर्थ को ही देखा करते हैं। ये सुखकी आशाने दुःखकर विषय भोगों में फँसे रहते हैं। इस प्रकार स्त्री पुरुष के द्वारा पुरुष स्त्री के द्वारा आसक्त होकर यथार्थ सुख से वञ्चित हो जाते हैं। ठगे जाते हैं।"

परिचय पूछता है। तब वे गुरुओं के गुरु चराचर के स्वामी अच्युत भगवान् कृपाभरी दृष्टि से उसकी ओर देखते हैं, स्वयं अपना परिचय देते हैं। तब वह अपने स्वरूप को जानता है। तब प्रभुको पहिचानकर उनके पादपद्मों में पड़ता है। उनके चरणों की शरण लेता है, गुरु रूप से भगवान् उसे अपने निकट आने का साधन बताते हैं। मुक्ति का मार्ग बताते हैं। मुक्त तो वह तभी हो गया, जब उसे मुक्तिपति के दर्शन हुए, किन्तु फिर भी वह लोक दृष्टि से मार्ग बतलाते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान के अत्यद्भुत रूप के दर्शन करके महाराज मुचुकुन्द सहमा संभ्रम में पड़ गये और सहम सकुचकर शंकित चित्त से पूछने लगे—"हे श्रीमान! आप कौन हैं? आपके मृदुल चरण तो कमल दल के सदृश मृदुल और मनोहर हैं। यह तो बतावें आप इन परम सुकुमार चरणों से इस कंटकाकीर्ण कठोर अवनिपर किस कारण विचर रहे हैं। आपके तेजसे तो प्रतीत होता है आप पुरुष नहीं कोई देव श्रेष्ठ हैं। पुरुष का रूप बनाने पर भी आपके अंग प्रत्यङ्ग से अद्भुत तेज फूट फूट निकल रहा है।"

भगवान् यह सुनकर हँसते रहे, उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब स्वयं ही तर्कना करते हुए राजा बोले—"आपके तेज से तो ऐसा प्रतीत होता है, कि आप समस्त तेजस्वियों में श्रेष्ठ अग्नि देव हैं? या आप भगवान भुवनभास्कर हैं। अथवा हो सकते हैं आप शर्वरी नाथ शशि हैं। यदि आप चन्द्र नहीं तो स्वर्गपति देवेन्द्र होंगे अथवा यम, वरुण, कुबेर, वायु नैऋत्य अथवा ईश इन लोकपालों में से कोई होंगे। अथवा ब्रह्मा, विष्णु महेश इन त्रिदेवों में से कोई होंगे। प्रभो! यदि आपको कोई आपत्ति न हो, तो मुझे आप अपना परिचय दें। अपने जन्म, कर्म और गोत्रके सम्बन्ध में कुछ बताकर मेरे कुतूहल को शान्त करें।"

यह सुनकर हँसते हुए भगवान् बोले—"राजन् ! प्रथम ही अपना परिचय दें । आप कौन हैं ? किसके पुत्र हैं ! गुफा में अकेले क्यों सो रहे हैं ? डील डौल से तो आप कोई सत

युगी पुरुष जान पड़ते हैं ? यह सुनकर शीघ्रता के साथ महाराज मुचुकुन्द बोले—"भगवन् ! आप मेरा परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, तो सुनिये, मैं इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न युवानाश्वनन्दन परम प्रतापी महाराज मान्धाता का तृतीय पुत्र हूँ । मुचुकुन्द मेरा

नाम है। देवताओं की रक्षा करते करते मैं स्वर्ग में अत्यन्त श्रान्त हो गया था, देवताओं के वर से मैं यहाँ एकान्त निर्जन स्थान में गाढ़ निद्रा में पड़ा चिरकाल से सो रहा था। आज सहसा न जाने किसने मुझे जगा दिया। जागकर मैं देखता हूँ, मुझे जगाने वाला भस्म हुआ पड़ा है। तभी कोटि सूर्यों के समान तेज वाले आप परम तेजस्वी महापुरुष के दर्शन मुझे हुए। वैसे मैं भी बहुत तेजस्वी कहलाता था। देवता असुर मेरे तेज को सहन करने में समर्थ नहीं होते थे, किन्तु आपके तेज के सम्मुख मेरा तेज उसी प्रकार फीका पड़ गया, जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर जुगुनू का तेज फीका पड़ जाता है। मैं आपके असह्य तेज के सम्मुख अधिक देर ठहर नहीं सकता। मेरी आँखें चका चौंध हो रही हैं और आपकी ओर मैं चिरकाल तक देख नहीं सकता। कृपा करके आप मुझे अपना परिचय करा दें।"

महाराज मुचुकुन्द के विनयावनत विनीत बचन सुनकर भूत-भावन भगवान् हँसते हुए उनसे मेघ गम्भीर वाणी में बोले—"राजन्! मैं अपना परिचय क्या दूँ? मेरा कोई निश्चित परिचय हो तो दूँ। न परिचय देना ही मेरा परिचय है! परिचय में प्रथम जन्म बताना पड़ता है। हमारा जन्म किस कुल में कब हुआ। सो या तो मेरा कभी जन्म ही नहीं हुआ या असंख्यों बार जन्म हो चुका। मैं उन सबको भूला नहीं जानता हूँ। अब रही कर्मों की बात, सो या तो मैं निष्कर्म हूँ या मेरे अनन्त कर्म हैं। तुम मेरा नाम जानते हो यदि मेरा कोई एक निश्चित नाम हो, तो बताऊँ मेरे तो अनन्त नाम हैं। कोई भी मेरे जन्म कर्म और नामों की गणना नहीं कर सकता। यह सम्भव है वर्षा के समस्त धाराओं की कोई गणना कर ले, यह भी सम्भव है कि अनन्त काल तक गिनता रहे तो सातों समुद्रों के जल के बिन्दुओं की गणना कोई बुद्धिमान् पुरुष करले। सम्भव है समस्त पृथिवी की

धूलि के कणों की भी गणना हो सकती है, आकाशके तारे भी गि जा सकते हैं, समस्त प्राणियों के रोमकूपों की भी गणना हो है, किन्तु मेरे जन्म, कर्म, गुण और नामों की गणना सम्भव नह है। सर्वज्ञ त्रिकालज्ञ ऋषि महर्षि भी मेरे कर्मों का निरन्तर व करते उनका अन्त नहीं पाते। तो भी मैं उपचार से जन्म कर्म और नामों का वर्णन करता हूँ।"

भगवान् की इस इतनी लम्बी चौड़ी भूमिका को सुन, महाराज मुचुकुन्द के कान खड़े हो गये। वे मन ही मन करने लगे, ये स्वयं साक्षात् श्रीमन्नारायण ही तो नहीं। शंख, चक्र, गदा और पद्म आदि आयुधों को देखकर तो यही प्रतीत होता है, यह सोचकर वे अत्यन्त विनय के साथ खड़े हो गये। तब भगवान् कहने लगे—"राजन्! मैं सुखपूर्वक समुद्र में शेष शैया पर शयन कर रहा था उसी समय वेद गर्भ ब्रह्माजी ने देवताओं के सहित मुझसे भूमिका भार उतारने की प्रार्थना की। मैंने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके कह दिया अच्छा—"मैं, अवनि पर अवतार लेकर दैत्यों का संघार करूँगा।" उसी वचन को पूरा करने के निमित्त मैंने यदुवंश में वसुदेवजी के यहाँ देवकी के गर्भ से अवतार धारण किया। वसुदेवजी के यहाँ अवतार लेने से ही लोग मुझे वासुदेव वासुदेव कहने लगे हैं। उत्पन्न होते ही मैंने असुरों का संहार करना आरम्भ कर दिया। अघासुर बकासुर, प्रलम्ब, चाणूर तथा अन्यान्य बहुत से असुरों को मैंने परलोक पठाया। कंस के रूप में उत्पन्न हुआ कालनेमि असुर मेरे ही हाथ से मारा गया है। जो भी साधु द्रोही असुर अनेक रूप रखकर मेरे सम्मुख आये हैं, उन सबको मैंने परलोक पठाया है। यह कालयवन भी भूका भार ही था। इसे भी मैंने अभी अभी तुम्हारी दृष्टि से मरवा दिया है। इस गुफा में मेरे आने का अन्य कोई काम नहीं था, केवल तुम्हारे ऊपर कृपा करने को ही

हाँ आया हुआ हूँ। तुम मेरे भक्त हो, मैं भक्त वत्सल हूँ,
ने मेरी पूर्वकाल में उपासना की है उसी का फल देने में
ारे सम्मुख उपस्थित हुआ हूँ। तुम मुझसे इच्छित वर माँग
। आज मैं तुम्हारी समस्त कामनाओं को पूर्ण करूँगा। जो
शरण में आ जाता है। उसकी कोई भी कामना शेष नहीं
ती।"

सूतजी कहते हैं—"राजन्! महाराज मुचुकुन्द भगवान् का
चय पाकर उनके पैरों में पड़ गये और गद्गद् कंठ से
की स्तुति करने लगे, उन्होंने जैसे भगवान् की स्तुति की
र भगवान ने जैसे उन्हें कृतार्थ किया इस प्रसंग को आगे
ाऊँगा।"

छप्पय

कहें विहँसि बल बन्धु नाम निज कहा बताऊँ।
जनम करम गुन अखिल कहाँ तक तुम्हें गिनाऊँ॥
सुरनि विनय जब करी जनम महि पै तब लीयो।
कंसादिक जे असुर नाश तिन सबको कीयो॥
वासुदेव मोकूँ कहें, कृपा करन आयो यहाँ।
जहाँ रहें मम भक्तगन, दौरि तुरत पहुँचूँ तहाँ॥

महाराज मुचुकुन्दकी स्तुति और भगवान्‌का उन्हें वर

(१०८४)

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेत्,
जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ,
परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥*
(श्री भा० १० स्क० ५१ अ० ५४ श्लो

छप्पय

सुमिरि गरगके वचन यादि मुचुकुन्दहिं आई ।
लिपटे चरननि दौरि बिनय धरि धीर सुनाई ॥
हे मायापति ! ईश ! मोहबश तुमहि न जानें ।
भरि मदमहँ अखिलेश नृपति अपनेकूँ मानें ॥
का इनकूँ माँगूँ प्रभो ! छिन भंगुर ये विषय सुख ।
तव चरननिमहँ होहि मति, है यह जग महँ परम सुख ॥

---

* महाराज मुचुकुन्द भगवान् की स्तुति करते हुए कह रहे हैं— अच्युत ! जीव इस संसार चक्र में न जाने कब से भटक रहा भटकते भटकते जब इसके जन्म मरण रूप संसार के अन्त होने समय आता है, तो इसे आपके भक्तों का सत्सङ्ग प्राप्त होता है । पुरुष को सत्सङ्ग प्राप्त हुआ, तहाँ सज्जन पुरुषों के एकमात्र गति कार्य कारण के स्वामी आप सर्वेश्वर में उसका चित्त लग जाता (जिसका आपमें चित्त लग जाता है उसका उद्धार हो ही जाता है)

मनुष्य लौकिक उन्नति कितनी भी क्यों न कर ले, जब तक का चित्त भगवान् में नहीं लगता तब तक उसे शान्ति नहीं, न नहीं, सन्तोष नहीं। जितनी भी कलायें हैं गुण हैं वे सब ी लोक की तड़क भड़क हैं। धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्गों फल भी स्वर्गादिलोक ही हैं। इनसे संसार का आवागमन नहीं सकता। शाश्वती शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब ावान् स्वयं दौड़कर दर्शन दें, स्वयं ही उसके समीप आवें तभी व का निस्तार हो सकता है। उनके आने की बाट जोहते रहना र अपनी समस्त चिन्ताओं को उनके ही ऊपर छोड़कर श्चिन्त होकर तान दुपट्टा सोते रहना यही एक मात्र उपाय है। नकी कृपा की प्रतीक्षा करता रहे। कभी न कभी तो भक्तवत्सल पालु कृष्ण कृपा करके हमारी गुफा में आवेंगे। कभी न कभी हम सोते हुओं को जगाकर वे वर देंगे। यही श्रेष्ठ साधन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज मुचुकुन्द ने मदनमोहन रारी माधव का परिचय पा लिया तो वे उनकी हाथ जोड़कर द्गद वाणी से स्तुति करने लगे। उन्हें महर्षि गर्ग के वचन रण हो आये। महामुनि गर्ग ने कहा था—"अट्ठाईसवें कलियुग भगवान् वासुदेव अवतीर्ण होकर असुरों का संहार करेंगे और म्हारे ऊपर कृपा करेंगे।" भगवान् के दर्शन करते ही वे समझ ये कि ये साक्षात् श्रीमन्नारायण ही हैं। मेरे ऊपर अनुग्रह करने े पधारे हैं, अतः वे उनकी स्तुति करते हुए कहने लगे—"प्रभो! आप तो मायेश हैं, यह मानव प्राणी माया से मोहित होकर ाप मुक्तिपति को नहीं पहिचानता। इसे तो खाने, पीने, सोने ा घर द्वार कुटुम्ब परिवार इन्हीं की निरन्तर चिन्ता बनी हती है। स्त्री पुरुष को देखकर अपने आपको भूल जाती है, रुप स्त्री के फंदे में फँस जाता है। दोनों एक दूसरे का चिन्तन रते रहते हैं। यह नहीं समझते हम यह विषपान कर रहे हैं।

काम के वशीभूत होकर आप कामारि को भुला देते हैं और मरण के चक्कर में घूमते रहते हैं प्रभो! ये संसारी विषय हैं, जिनसे कभी प्राणियों की तृप्ति ही नहीं होती। यदि तृप्ति हो तो, बड़े बड़े चक्रवर्ती राजा राज्य छोड़कर वनों को जाते? यदि पुरुषों की स्त्रियों से और स्त्रियों की पुरुषों से होती, तो ये वेश्यायें, बड़े बड़े व्यसनी धनी, सभी सन्तुष्ट देते, किन्तु ये सबसे अधिक चिन्तित और दुखी रहते हैं। बड़े पद पाने से ही तृप्ति होती तो देवताओं के राजा त्रि इंद्र शान्त और सुखी होते, किन्तु वे सबसे अधिक चिन्तित दुखी रहते हैं. उन्हें सदा खुटका बना रहता है, कोई सौ अ करके मेरे इंद्रासन को न छीन ले। अतः हे वासुदेव! मैं संसारी विषयों की याचना नहीं करता। मैं तो भक्तों की एक प्रार्थनीय आपकी चरण सेवा चाहता हूँ। आपके पादपद्मों में बनी रहे, यही एक मात्र मेरी अभिलाषा है। आप मोक्ष के माधव को भी पाकर मैं उन्हीं बन्धनकारी विषयों की याचना तो मेरे लिये धिक्कार है। अतः हे जनार्दन! मेरा यही एक वर है, कि आप मुझे अपना कहकर अपनाइये। मुझ शरण की रक्षा कीजिये।"

महाराज मुचुकुन्द के ऐसे गूढ़ ज्ञानमय उपदेशों को सु प्रसन्न होकर भगवान् बोले—"हे राजन्! मैं तो समझता आप मुझसे पुनः राज्य पाट माँगेंगे, आपने तो कुछ भी मु याचना नहीं की।"

मुचुकुन्द बोले—"महाराज! बड़े बड़े चक्रवर्ती तो राज नुराग से मुक्त होने के लिये आपसे प्रार्थना करते हैं, मैं आप पाकर भी फिर तुच्छ राज्य पाट की याचना करूँ, यह दुर्भाग्य ही है।"

भगवान् बोले—"नहीं राजन्! आप तो बड़े बुद्धिमान

आप अपने स्वार्थ को समझते हैं। तभी तो मेरे बार बार वर के लिये प्रलोभन देने पर भी आप वासनाओं के वशीभूत नहीं हुए। जो लोग मुझे पाकर भी इन तुच्छ पदार्थों की कामना करते हैं, वे मानों मेरी माया के द्वारा ठगे गये।"

मुचुकुन्दजी ने कहा—"तब भगवन्! आप मुझे वर का प्रलोभन क्यों दे रहे थे?"

भगवान् बोले—"राजन्! वर की बात तो मैंने केवल आपकी सावधानी की परीक्षा के ही लिये कही थी, कि देखें आप प्रलोभन में फँसते हैं या नहीं। सो, आप परीक्षा में उत्तीर्ण ही हुए।" जो मेरे अनन्य भक्त होते हैं, वे सदा सचेष्ट रहते हैं, उन्हें कोई विषयों का प्रलोभन दे भी तो उनकी बुद्धि संसारी विषयों की कामना से विद्ध नहीं होती।"

मुचुकुन्दजी ने कहा—"प्रभो! हमने तो देखा है, बड़े बड़े योगी भी योगारूढ़ होने पर फिसलते हुए देखे गये हैं, उनका भी चित्त विषयों में फँसा हुआ देखा गया है।"

भगवान् बोले—"राजन! वे मेरे भक्त नहीं होते। वे अपने प्रबल पुरुषार्थ द्वारा—प्राणायामादि साधनों द्वारा—अपने मन को वश में करने की चेष्टा करते रहते हैं। किन्तु यह मन तो बड़ा ठग है इसे जहाँ तनिक भी छिद्र मिला कि तुरन्त विषयों में चला जाता है। जो भगवान् का तो आश्रय लेते नहीं, केवल अपने साधनों द्वारा मन को वश में करने की चेष्टा करते हैं, उनके भीतर तो वासना बनी ही रहती है, अवसर आने पर वह उमड़ आती है और वे विषयों में फँस जाते हैं, किन्तु जो मेरे भक्त हैं, कभी भूल से फिसल भी जाते हैं, तो मेरी भक्ति के प्रभाव से तुरन्त सम्हल जाते हैं, मैं उन्हें विषयों में फँसने नहीं देता। अब तुम मुझमें चित्त लगाकर पृथिवी पर स्वच्छन्द होकर विचरण मैं तुम्हें वर देता हूँ, मुझमें तुम्हारी सर्वदा

बनी रहेगी।"

मुचुकुन्द ने भगवान् के चरणों में पुनः पुनः प्रणाम करने के अनन्तर निवेदन किया—"प्रभो! मुझे अब कब तक इस संसार-चक्र में भटकना होगा?"

भगवान् बोले—"राजन्! अब तुम्हारा संसार बन्धन कहाँ रहा। जीव का संसार बन्धन तभी तक रहता है, जब तक वह मेरे सम्मुख नहीं आता। मेरे सम्मुख होते ही उसका भवबन्धन छूट जाता है। देखो, तुमने क्षात्र धर्म में स्थित होकर मृगया आदि में बहुत से जीवों का वध किया है, अतः तुम अब समाहित चित्त से मेरी उपासना करते हुए उन पापों का प्रायश्चित्त करो, उन्हें घोर तप करके क्षीण करो। अभी तुम्हारा एक जन्म और होगा। आगामी जन्म में तुम समस्त प्राणियों के परम सुहृद एक उत्तम ब्राह्मण होंगे, उस समय तुम मुझ केवल स्वरूप परमात्मा को अवश्यमेव प्राप्त होगे।"

यह सुनकर आश्चर्य के साथ शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् के दर्शन होने पर तो कोटि जन्मों के पाप क्षय हो जाते हैं, फिर मुचुकुन्दजी के मृगया आदि के किये एक जन्म के साधारण पाप नाश क्यों नहीं हुए? उन्हें फिर एक जन्म क्यों धारण करना पड़ा?"

सूतजी बोले—"महाराज! भगवान् तो भक्त की भावना के अनुसार फल देते हैं। भगवद्भक्त तो कभी मोक्ष की इच्छा करते ही नहीं। उनका तो कथन है—"हम चाहे घोर नरक में रहें चाहे हमारे असंख्यों जन्म हों, किन्तु हृदय में भगवान् की स्मृति बनी रहे।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! भक्त नहीं माँगता यह तो दूसरी बात है, किन्तु सूर्य के उदय होते ही अंधकार रह ही नहीं सकता। इसी प्रकार भगवान् के दर्शन होने पर जन्म मरण का

चक नाश होना ही चाहिये।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! हो तो गया। किन्तु भगवान् तो भावना को देखकर फल देते हैं, जो भक्त होते हैं, उन्हें गोलोक साकेत वैकुण्ठादि लोक देते हैं ज्ञानी होते हैं, उन्हें ज्ञान से मुक्ति देते हैं और जो वर्णाश्रमधर्म के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें वर्णाश्रमधर्म के अनुसार गति देते हैं। ये महाराज मुचुकुन्द वर्णाश्रमधर्म के अनुसार उपासना करनेवाले थे। वर्णाश्रमधर्म में चार वर्ण और चार आश्रम होते हैं, उनमें सबके पृथक्-पृथक् धर्म होते हैं श्रद्धा भक्तिपूर्वक अपने अपने अधिकारानुसार जो धर्म में स्थित रहकर कर्तव्यकर्म को पालन करते हैं उन्हें उसी के अनुसार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

जैसे शूद्र है, उसका धर्म है शुद्धभाव से तीनों वर्णों की सेवा करते रहना। उसी से अपनी आजीविका चलाना। गृहस्थ को छोड़कर अन्य किसी आश्रम का वेष धारण न करना। इस प्रकार वह अपने स्वधर्म का पालन करता रहेगा, तो अन्त में स्वर्ग जायगा, स्वर्गीय सुखों को भोगकर दूसरे जन्म में वह वैश्य होगा। शूद्र के लिये एक आश्रम था केवल गृहस्थ. किन्तु वैश्य के लिये दो आश्रमों का विधान है। वह ब्रह्मचर्याश्रम को धारण करके वेदाध्ययन करे और फिर गृहस्थ हो कर कृषि वाणिज्य और गोरक्षा द्वारा अपनी आजीविका करता हुआ गृहस्थधर्म का पालन करे। इस प्रकार धर्मपूर्वक अपने आदर्श गृहस्थधर्म का पालन करता रहे, तो मरकर महर्षियों के महर्लोक तक में वह जा सकता है और वहाँ के सुखों को भोग कर अन्त में क्षत्रिय हो कर उत्पन्न होगा। क्षत्रिय के लिये तीन आश्रमों का विधान है, वह ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके गृहस्थ हो जाय और गृहस्थधर्म का पालन करके अन्त में वानप्रस्थी हो कर वन में जाकर घोर तपस्या करे। उस तपस्या के प्रभाव से वह तपस्वियों के तपलोक तकको प्राप्त हो

सकता है। फिर अन्त में वह ब्राह्मण हो कर जन्म लेगा। ब्राह्मणों को चारों आश्रमों का अधिकार है। पहिले वह ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर वेदाध्ययन करे, फिर गृहस्थ होकर यज्ञ यागादि अनुष्ठान करे, तदनन्तर वानप्रस्थ व्रत लेकर घोर तप करे और अन्त में सबको छोड़कर सन्यासाश्रमको धारण करले। इस प्रकार सन्यास धर्मका पूर्ण रीत्या पालन करने से उसे ब्रह्माजी के सत्यलोक की प्राप्ति होगी, वह ब्रह्मलोक में कल्प पर्यन्त रहेगा, उसके ज्ञान में कुछ कमी होगी, उसे ब्रह्माजी पूरी कर देंगे और ब्रह्माजी के साथ कल्पान्त में वह मुक्त हो जायगा। यह वर्णाश्रमियों की क्रममुक्ति का विधान है। जो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वे जनलोक में जाते हैं और फिर लौटकर नहीं आते मुक्त हो जाते हैं। भगवद् भक्तों के लिये, ऐसा कोई नियम नहीं। वे किसी वर्ण के हों, किसी आश्रम के हों, भक्ति के द्वारा वे भगवान् के लोक को प्राप्त हो ही जाते हैं। महाराज मुचुकुन्दकी निष्ठा वर्णाश्रमधर्म में भी थी और वे भगवान् के भक्त भी थे। अतः उनकी निष्ठा को पूर्ण करने के लिये भगवान्ने उन्हें तपस्या करनेकी—वानप्रस्थव्रत धारण की आज्ञा दी। इससे वे दूसरे जन्म में सर्वभूत सुहृद् ब्राह्मण होकर केवल भगवान् को प्राप्त होंगे; ऐसा वर देकर उनकी वर्णाश्रम धर्म की निष्ठाका भी निर्वाह किया और भक्ति का भी महत्व दिखाया। वास्तव में तो जब उन्हें भगवान् के दर्शन हुए तभी उनके सब बन्धन छूट गये। यह तो एक उपासना की निष्ठा प्रदर्शित करने के लिये भगवान्ने ऐसा किया। भगवान् से दर्शन हो जायँ उनकी भक्ति हृदयमें बनी रहे, तब चाहे जन्म हो न हो एक ही बात है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हमारी शङ्का का समाधान हो गया। अब आप आगे की कथा कहें। वे महाराज मुचुकुन्द फिर कहाँ गये?"

सूतजी बोले—"हाँ महाराज! वही तो मैं कहने वाला था। महाराज मुचुकुन्द ने भगवान् की बड़ी दिव्य स्तुति की है। उसका वर्णन मैं प्रसङ्गानुसार आगे स्तुति प्रकरण में करूँगा। भगवान् वासुदेव से वर प्राप्त करके महाराज मुचुकुन्द ने भगवान् वासुदेव की श्रद्धा सहित परिक्रमा की, उनके प्रति अपनी श्रद्धा भक्ति की और उनके चरणों में प्रणाम करके, वे उनके पीछे पीछे गुफा से बाहर निकले। बाहर निकलते ही उन्होंने जो कुछ देखा उसे देख कर उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। वे तो सत्ययुग के थे। अट्ठाईस हाथ लम्बे थे। अब छोटे छोटे अपने हाथों से साढ़े तीन तीन हाथ के लोगों को देखकर वे भौचक्के रह गये, अपने समय में जो उन्होंने वट वृक्ष देखे थे, उनके सामने आज के वट वृक्ष झाऊके-से पेड़ दिखायी दिये। उन्होंने जो गौएँ देखी थी, उनके सामने आज की गौएँ बकरियों की बच्चियों के समान दिखाई दी। नर, नारी, पशु, पक्षी, लता, वृक्ष तथा सभी वस्तुओं को आकार में अत्यन्त छोटा देखकर वे समझ गये, कि पृथिवी पर अब कलियुग आ गया है। जैसे नगर का स्वच्छ साफ व्यक्ति पहाड़ के अत्यन्त गन्दे कुलियों के साथ रहने में घबराता है, वैसे ही वे सतयुगी महाराज इन कलियुगी लोगों को देखकर घबरा गये। सबके शरीरों से पाप की दुर्गन्ध आ रही थी। सबके शरीरों से द्वेष, कलह, ईर्ष्या, दम्भ, पाखण्ड, असत्य आदि दुर्गुणों के परमाणु निकल रहे थे। ऐसे पुरुषों में महाराज को क्षण भर भी रहना भारी पड़ गया। वे तुरन्त उत्तराखण्ड में चले गये, और बदरी नाथ के आगे सम्याप्रास प्रदेश में बरफ से ढके एक पर्वत में गुफा बनाकर उसी में घोर तप करने लगे। सुनते हैं वे अभी तक उत्तराखण्ड में रहकर तपस्या कर रहे हैं। बदरीनाथ से आगे माणा ग्राम से ऊ[illegible] तक मुचुकुन्द गुफा विख्यात है।

इस प्रकार तप श्रद्धा से सम्पन्न उन राजर्षि ने भगवान् से अमोघ वर प्राप्त करके संग और संशय से रहित होकर गन्धमादन पर्वत पर रहकर मुनि व्रत धारण किया और उस परम पावन नर नारायण के स्थान में समस्त द्वन्द्वों को सहन करते हुए शान्तभाव से अद्यावधि आराधना में निरत हैं। यह मैंने महाराज मान्धाता पुत्र मुचुकुन्द की संक्षिप्त कथा कही अब आप लोग क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! अब आप हमें भगवान् का ही अग्रिम चरित्र सुनाइये। कालयवन का अन्त करा कर भगवान् कहाँ पधारे। बलदेवजी कहाँ रह गये ? कालयवन की सेना का क्या हुआ। जरासन्ध ने फिर चढ़ाई की या नहीं। इन्हीं सब बातों को हमें बताइये।"

यह सुनकर सूतजी बोले—"महाराज भगवान् जिसके भय से भागे थे वह तो मर ही गया, इसलिये फिर वे लौटकर मथुरापुरी में ही आये। बलदेवजी वहीं थे। फिर भी उन्हें जरासन्ध का तो खुटका लगा ही हुआ था, अतः मथुरा तो उन्हें छोड़नी ही थी। अब मथुराजी से जैसे वे द्वारका गये इस प्रसंग को मैं आगे सुनाऊँगा।

छप्पय

दयो भक्ति बरदान गुहातैं निकसे यदुवर।
देखें नृप मुचुकुन्द कलियुगी लघु पशु तरु नर॥
बदरीवन तप करन गये तहँ मुनि व्रत साधें।
संयम श्रद्धा सहित श्यामकूँ नित आराधें॥
इत मथुरा आये मदन-मोहन सैना यवनकी।
लूटि पाटि बाँधी तुरत, पुरीं सब धन रतनकी॥

जरासन्ध की अठारहवीं बार चढ़ाई

(१०८५)

नीयमाने धने योभिर्नृभिश्चाच्युतचोदितैः ।
आजगाम जरासन्धस्त्रयोविंशत्यनीकपः ॥ ※
(श्री भा० १० स्क० ५२ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

खचर बैलनि लादि द्वारका धन पहुँचावत ।
तबईं निरख्यो जरासन्ध सेनासँग आवत ॥
रामश्याम लखि सैन बाँधिके मुट्ठी भागे ।
जरासन्ध के सकल वीर वर पीछें लागे ॥
भगत भगत दोऊ थके, चढ़े प्रवर्षणपै उछरि ।
घेरयो गिरि चहुँ ओर तैं, जावें नहिं अब ये उतरि ॥

जब भगवान् जैसी लीला करते हैं, तब उसे पूरी निभाते हैं। योद्धा की लीला दिखायेंगे, तो पूर्ण योद्धा बन जायेंगे। शृङ्गार की लीला दिखावेंगे तो साक्षात् मन्मथ के भी मन को मथने

※ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! जब म्लेच्छ सेना के धन को लूटकर, उस धन को भगवान् की आज्ञा से उनके सेवक बैलों पर तथा मनुष्यों पर लदवाकर ले जा रहे थे, तभी जरासन्ध तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर मथुरापुरी में पुनः आ गया।"

वाले बन जायँगे और जब भगोड़े की लीला दिखावेंगे, तो पूरे भगोड़े बन जायँगे। भगोड़ों के-से सभी आचरण करेंगे। क्योंकि वे तो सब ओर से सब कर्मों में पूर्ण ही हैं। पूर्ण के कामों में अपूर्णता कहाँ ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! कालयवन को मुचुकुन्द-द्वारा मरवाकर श्यामसुन्दर मुचुकुन्द को लिये हुए ही गुफा से बाहर निकले। मुचुकुन्द तो उत्तराखण्ड में चले गये और आप लौटकर पुनः श्रीबलदेव पालिता मथुरापुरी में आ गये। अब मथुरा में रहना तो था ही नहीं मथुरा की लीला समाप्त करके उन्हें तो अब द्वारका को बसाना था। अतः जाते ही उन्होंने कालयवन की सेना पर प्रहार कर दिया। सेना प्रभु के प्रहार को न सह सकी और वहाँ से भाग खड़ी हुई। जो लड़ने सम्मुख आये उनका तो भगवान् ने संहार किया और जो भग गये सो भग ही गये। म्लेच्छ सेना के पास बहुत धन था भगवान् ने सब लूट लिया और उसे छकड़ों, ऊँटों, खचरों तथा आदमियों पर लदवाकर बलदेवजी के साथ वे द्वारका को चले गये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! इतनी बड़ी म्लेच्छों की सेना थी, अकेले भगवान् ने कुछ ही समय में उन्हें कैसे मार भगाया ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! विजय अधिक संख्या से नहीं होती, विजय तो हार्दिक उत्साह और संगठन से होती है। जिसका सैन्य सञ्चालन व्यवस्थित और सुचारु रूप से होगा, उसकी सेना चाहे थोड़ी ही हो, उसकी विजय होगी। इसके विपरीत जिस सेना का कोई योग्य सेनापति नहीं। लोग किसी एक की आज्ञा में नहीं चलते उनकी संख्या चाहे जितनी भी ज्यादा क्यों न हो उनकी कभी विजय हो नहीं सकती।

प्राचीन काल में सभी प्रजा के लोग क्षत्रियों से असन्तुष्ट हो गये। उन्होंने मिलकर क्षत्रियों के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह खड़ा कर

दिया। एक ओर तो अकेले क्षत्रिय थे दूसरी ओर ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र तथा और भी लोग थे। दोनों में युद्ध हुआ। बार बार क्षत्रियोंकी ही विजय होती थी। यद्यपि वे संख्यामें बहुत न्यून थे और ये संख्यामें बहुत थे। अपनी पराजय देखकर ये ब्राह्मणादि बड़े चिन्तित हुए। अस्त्र शस्त्र रखकर ये क्षत्रियोंके पास गये और जाकर बोले—"क्षत्रियो! हम तुमसे धर्मपूर्वक यह प्रश्न पूंछते हैं, कि हम संख्यामें अत्यधिक होने पर भी बार बार पराजित क्यों होते हैं और आप संख्यामें अल्प होने पर भी विजयी क्यों हो जाते हैं।"

इस पर क्षत्रियोंने कहा—"देखो, आप लोग यद्यपि संख्या में हमसे बहुत अधिक हैं, किन्तु आपसमें सङ्गठन नहीं। आपका कोई एक सेनापति नहीं। सेना तो सेनापतिके साहससे ही लड़ती है। जिस सेनाका कोई सेनापति नहीं उसका साहस भंग हो जाता है। आप लोग सभी अपनेको बुद्धिमान लगाते हैं, एक दूसरेकी बात नहीं मानते इसीलिये आपकी विजय नहीं होती। हमलोग अपना एक सेनापति बनाते हैं और अपनी सब बुद्धि उसे सौंप देते हैं वह जो कहता है हम सब उसके संकेतानुसार काम करते हैं, इसीलिये हमारी विजय होती है, यदि आप लोग भी अपना कोई सेनापति बना लें और उसीकी आज्ञामें चलें तो कभी आपकी भी विजय हो जायगी। बिना सेनापति की सेना कभी विजय नहीं होती।"

यह सुनकर सब लोग लौट आये और उन्होंने अपना एक सेनापति बनाया। सो, मुनियो! सेनापति रहित सेना कभी विजय नहीं होती। कालयवन के मर जाने पर सेना का साहस वैसे ही घट गया था, फिर भगवान्‌की बाण वर्षाको वे न सके और पराजित होकर भाग खड़े हुए। उनके ... भगवान् उनके धनको लूटकर चल दिये। किन्तु

जिस समय वे चले उस दिन उस दिशामें दिशाशूल था चन्द्रमा पीठ पीछे थे। भगवान् बिना मुहूर्त देखे ही भाग खड़े हुए। इसी लिये वह लूटका धन उनके लिये फलीभूत नहीं हुआ ज्यों ही लूटके धनको लेकर नगरके बाहर निकले त्यों ही उन्हें सामने से बड़ी भारी सेना लिये हुए जरासन्ध दिखायी दिया। अब तो भगवान्‌की सिटिल्ली भूल गयी। दूसरा कोई उपाय न देखकर वे बलदेवके सहित मुट्ठी बाँधकर भागे और हाँफते हुए कहते जाते थे—"दादा! भाग चलो, अबके इससे नहीं जीत सकते। अबके यह ब्राह्मणोंका आशीर्वाद लेकर आया है।"

बलदेवजी भी भागनेमें कुछ कम थोड़े ही थे, वे भी भगवान् के साथ मुट्ठी बाँधकर भाग रहे थे। यह देखकर जरासन्ध बहुत हँसा। उसने ललकारकर कहा—"अरे, कृष्ण बलराम! हम तो तुम दोनोंके बल की बड़ी प्रशंसा सुनते थे। अब तुम चोरों की भाँति भाग रहे हो, किन्तु भागकर जाओगे कहाँ, तुम जहाँ भी जाओगे वहीं मैं तुम्हारा पीछा करूँगा।" यह कहकर अपने सभी रथी अश्वारोही गजारोही तथा अन्याय सैनिकों के साथ उनका पीछा किया।

ये लोग तो सब वाहनोंपर थे, राम श्याम पैदल ही भाग रहे थे। भगवान् को तो भगोड़ेपन की पूरी लीला दिखानी थी, अतः दौड़ते-दौड़ते वे थक भी गये। अब क्या करें शत्रु हमें थका समझ लेगा तो पकड़ लेगा, बाँधकर अपनी राजधानी में ले जायगा। यही सोचकर भगवान् सामने एक प्रवर्षण नामक पर्वत था उसी पर चढ़ गये। उस पर्वत पर नित्य ही वर्षा होती रहती थी, इसीलिये उसका नाम प्रवर्षण था। भगवान् तो पैदल उछलकर ऊपर चढ़ गये। इन सबके पास रथ थे, हाथी घोड़े थे, अतः ऊपर न चढ़ सके। जरासन्ध जानता था, कि बिना सेना के दस बीस पचास आदमी पर्वत पर चढ़कर जायँगे तो ये

दोनों भाई उन्हें मार डालेंगे। सत्रह बार लड़ चुका था, अतः इनके बल पराक्रम को भली भाँति जानता था। इसीलिये उसने सोचा—"अब तो ये अपने आप फँस गये। मैं इस पहाड़ के चारों ओर अपनी सेना का घेरा डाल देता हूँ। जब भी ये दोनों भाई जायँगे तभी पकड़कर इनसे युद्ध करेंगे। कभी न कभी तो पहाड़ से नीचे उतरेंगे ही। फिर उसने सोचा—"संभव है ये लोग ऊपर ही बैठे रहें। इसलिये इस पर्वत के चारों ओर आग लगा दो। या तो आग के भय से नीचे उतरेंगे ही। न उतरेंगे तो उसी पर्वत पर भस्म हो जायँगे।" यही सोचकर उसने चारों ओर से बड़े-बड़े पेड़ कटवाकर बारूद भरवाकर आग लगा दी। एक कोने में प्रचण्ड अग्नि की लपटें उठने लगीं और धड़ाके होने लगे! भगवान् बलदेवजी के सहित उस इतने ऊँचे पर्वत पर से सबकी आँखें बचाकर कूद पड़े और रातोंरात भागते रहे।

इस प्रकार जरासन्ध के आँखों में धूलि झोंककर दोनों अपनी नई राजधानी द्वारकापुरी में आ गये। द्वारका के चारों ओर तो समुद्र की खाई थी। उसमें तो किसी शत्रु का प्रवेश हो ही नहीं सकता था। अतः उस पुरी में आकर वे सुखपूर्वक रहने लगे।

इधर जरासन्ध ने देखा चारों ओर आग लगा ही गयी है, आग की लपटें वृक्षों को जलाती हुई पर्वत की चोटी तक पहुँच गयी है, किन्तु रामकृष्ण कहीं से उतरे नहीं। निश्चय ही वे दोनों जलकर भस्म हो गये। अच्छा हुआ बिना युद्ध के ही मेरे शत्रुओं का नाश हो गया।" यह सोचकर वह अपनी विजय मानता हुआ लौटकर मगध देश में आ गया और अपने को सम्राट मानकर पृथिवी का पालन करने लगा। 'मैंने श्रीकृष्ण को भी जीत लिया' यह सोचकर उसका अभिमान और भी अधिक बढ़ गया।

इस पर शौनक जी ने पूछा—"सूतजी! द्वारकापुरी में रहकर

भगवान् ने कौन-कौन सी लीलायें कीं। हाँ उन्होंने विधिवत् विवाह किया या ऐसे ही फक्कड़ बने रहे। भगवान् ने कितने विवाह किये ? कितने बच्चे हुए और क्या क्या लीलायें कीं, ये सब बातें हमें सुनाइये। अब तक हमने वृन्दावन विहारी नन्दनन्दन के तथा मथुरेश वसुदेवनन्दन के चरित्र सुने अब हम द्वारकेश भगवान् के चरित्र और सुनना चाहते हैं।"

सूतजी बोले—"हाँ महाराज ! अब आप द्वारकेश भगवान् के ही चरित्र सुनें। भगवान् फक्कड़ नहीं रहे, उन्होंने तो इतने विवाह किये इतने विवाह किये, कि विवाहों की धूम मचा दी। विवाह से तो वह विरत रहता है, जो विवाह को बन्धन समझता है, अरसिक होता है। भगवान् तो बन्धनों को काटने वाले हैं। रसिक चूड़ामणि हैं परम रसिक हैं। इतने विवाह करके भी वे अलिप्त ही बने रहे। विवाह की तो उनकी पहिले से ही इच्छा थी, किन्तु बड़े भाई के क्वारे रहते छोटा भाई विवाह कैसे कर सकता है, इसीलिये अब तक मौन रहे। जब बलरामजी के साथ आनर्तनरेश महाराज रैवत ने अपनी पुत्री रेवती का विवाह ब्रह्माजी के कहने से कर दिया और बलभद्रजी ने उसे ठोक पीटकर छोटी बना लिया, तो भगवान् को सन्तोष हुआ अब वे अपने विवाह की भी साँठ-गाँठ लगाने लगे।

बलभद्रजी का जिस प्रकार रेवतीजी से विवाह हुआ था, उस प्रसङ्ग को हम पीछे महाराज रैवत के प्रसङ्ग में वर्णन कर ही चुके हैं। अब भगवान् ने जैसे विवाह के समय शिशुपाल के पक्षपाती शाल्वादि अनेक राजाओं का मान मर्दन करके विदर्भनरेश महाराज भीष्मक की कन्या श्रीरुक्मिणीजी का हरण किया और उससे राक्षस विधि से उसे विवाह किया, उस कथा को मैं आगे वर्णन करूँगा। बात यह थी, कि श्रीरुक्मिणीजी तो श्रीलक्ष्मीजी की अंशावतार थीं। उन पर जन्म सिद्ध अधिकार तो

श्रीमन्नारायण का ही था। उसके पिता उसका विवाह शिशुपाल के साथ कर रहे थे। उसी समय विवाह में से ही भगवान उन्हें रथ-पर चढ़ाकर उसी प्रकार लेकर भाग आये जैसे देवताओं के देखते देखते स्वर्ग से गरुड़ जी अमृत को हर लाये थे।"

यह सुनकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! क्या भगवान् का विवाह वैसे कोई नहीं करता था, जिससे उन्हें राक्षस विधि से कन्या का हरण करना पड़ा। अमित पराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र ने इतने बड़े बड़े राजाओं को परास्त करके कन्या का हरण कैसे किया? भगवान की और भी जो द्वारका की कथाएँ हों उनका भी वर्णन करें। भगवान् की कथाओं को श्रवण करके मेरी तृप्ति होती ही नहीं।"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! आप धन्य हैं जो भगवान् के चरित्रों में आपका ऐसा अनुराग है। अब मैं आपसे भगवान् द्वारकाधीश के विवाह की ही कथा कहूँगा आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।

छप्पय

परवत लीयो घेरि आगि चहुँ ओर लगाई।
जरि जावे मम शत्रु जरासँध मनहिं सिहाई॥
कूदे दोऊ बन्धु न भय कछु मनमहँ मान्यो।
कंच गिरितैं गिरि गये न काहूने कछु जान्यो॥
जरासन्ध निजपुर गयो, शत्रु मरयो हिय मानिकें।
इत सुखतें यदुवर रहैं, पुरी द्वारका आनिकें॥

श्रीरुक्मिणीजी

(१०८६)

राजाऽऽसीद्भीष्मको नाम विदर्भाधिपतिर्महान्।
तस्य पञ्चाभवन् पुत्राः कन्यैका च वरानना ॥❀
(श्री भा० १० स्क० ५२ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

पूछें शौनक—सूत ! द्वारका वृत्त बताओ।
कै हरि किये विवाह भये कै पुत्र सुनाओ॥
हँसि के बोले सूत-कहाँ तक व्याह गिनाऊँ।
मुख्य भये जे आठ प्रथम कूँ प्रथम सुनाऊँ॥
नृप विदर्भपति भीष्म के, पाँच पुत्र रुक्मी बड़ो।
बहिन रुक्मिनी अंश श्री, जाके हित हरि तैं लड़्यो॥

विवाह का सम्बन्ध पूर्व जन्मों के संस्कारों से है। कुमारी कन्या और कुमार वर के माता पिता कितनों के साथ मन चलाते हैं, कितनों से बातें करते हैं। यहाँ तक कि कई स्थानोंमें पक्की हो जाती हैं, लेन देन हो जाता है, बरात तक आ जाती है, पूजन

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! विदर्भ देश के अधिपति एक भीष्मक नामक राजा थे। उनके पाँच पुत्र थे और एक अत्यन्त सुमुखी (रुक्मिणी नाम्नी) कन्या थी।"

तक हो जाता है, फिर भी विवाह नहीं होता। किसी दूसरे से ही हो जाता है। इसके विपरीत जिससे स्वप्न में भी संभावना नहीं होती उससे सहसा हो जाता है। जिससे जिसका पूर्वजन्म का संस्कार होता है, उसका उससे सम्बन्ध हो ही जाता है। मनुष्य लाख प्रयत्न करे सब विफल हो जाता है, जिससे नहीं होना होता, बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं होता। बहुत से सुन्दर सुन्दर फल आते हैं। उन्हें देखकर कितने लोग मन चलाते हैं, किन्तु जिसका जिस पर नाम लिखा रहता है उसे वही फल मिलता है। पत्रालय में कितने पत्र आते हैं, सब प्रायः एक-से ही होते हैं, किन्तु जिस पर जिसका ठीक पता लिखा है, उसे वही पत्र मिलता है। जो हमारे भाग्य का है, वह दूसरे को मिल ही नहीं सकता। जिस पर हमारा नाम नहीं लिखा है, वह हमें प्राप्त नहीं हो सकता।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आपने मुझसे भगवान् के विवाह का वृत्तान्त पूछा अब मैं आपको उसी को सुनाता हूँ। दक्षिण देश में विदर्भ (बरार) नामक एक बड़ा ही समृद्धिशाली देश है। जिस समय भगवान् द्वारका पुरी में विराज रहे थे, उस समय विदर्भ देश के अधिपति महाराज भीष्मक थे। महाराज भीष्मक बड़े ही धर्मात्मा और प्रजावत्सल थे। उन्होंने बहुत दिन तक भगवती की आराधना की थी, उनकी आराधना से प्रसन्न होकर साक्षात् लक्ष्मी देवी ने उन्हें वर दिया था—"मैं तुम्हारे यहाँ पुत्री बनकर उत्पन्न होऊँगी!" इसीलिए लक्ष्मीजी के अंश से उनके परम सुन्दरी सुशीला सर्वगुण सम्पन्न पुत्री हुई। महाराज ने उसका नाम रुक्मिणी रखा। महाराज भीष्मक के रुक्मी, रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश, और रुक्ममाली ये पाँच पुत्र भी थे। इन सब में रुक्मी बड़ा था। रुक्मणी इन सब भाइयों से छोटी थी।

भगवती रुक्मिणी बाल्यकाल से ही बड़ी सुन्दर थीं, जो भी उन्हें देखता वही मुग्ध हो जाता। वे माता, पिता परिजन पुरजन तथा सुहृदों को सुख देती हुई अन्तःपुर में उसी प्रकार बढ़ने लगी जैसे सरोवर में कुमुदिनी अथवा सुन्दर उद्यान में सुवर्ण लता। शनैः शनैः उसने बाल्य, पौगण्ड और किशोरावस्थाओं को पार करके युवावस्था मे प्रवेश किया। इधर भगवान् भी सोच रहे थे मेरी शक्ति मेरे बिना चिन्तित है अतः उनके मन में भी विवाह का संकल्प उठा। नारदजी तो भगवान के संकल्प रूप ही हैं अतः उन्होंने सोचा—"भगवान् इतने बड़े हो गये हैं। अकेले अकेले अच्छे लगते नहीं यदि उनके युगल रूप में दर्शन हों तो बड़ा उत्तम हो। युगल उपासना बिना शक्ति के अधूरी है। यही सब सोच कर घूमते फिरते वे विदर्भाधिप महाराज भीष्मक की राजधानी कुंडिनपुर में आये। महाराज भीष्मक देवर्षि नारद को देखकर, अपने आसन से सहसा उठ खड़े हुए उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हुए देवर्षि का स्वागत किया, चरण वंदना की और विधिवत् पूजा की। अपने पुत्रों से प्रणाम कराया और उन सबके नाम भी बताये। इतने में ही अन्तःपुर से रुक्मणी को साथ लिये हुए महारानी भी आयीं और उन्होंने मुनि की चरण वन्दना की। राजा ने रुक्मणी को सम्बोधित करते हुए कहा—"बेटी! भगवान को प्रणाम करो।"

यह सुन कर लजाते हुए रुक्मिणी जी ने अपने वस्त्रों को समेट कर मुनि के चरणों में विधिवत् प्रणाम किया।

मुनि ने बड़ी गंभीर मुद्रा से भगवती रुक्मिणी को देखा। वे समझ गये ये ही जगज्जननी हैं। ये ही हमारे भगवान् की शक्ति हैं। ये ही जगत्पति की सहधर्मिणी हैं। यह सोचकर उन्होंने मन ही मन उनके चरणों में प्रणाम किया। ऊपर से वे बोले—"राजन्! यह आपकी पुत्री है?"

राजा ने कहा—"हाँ भगवन् ! आपकी ही बच्ची है।"

इस पर मुनि ने पूछा—"अभी आपने इसके विवाह फियाह की कोई बात पक्की नहीं की।" चिन्तित होकर राजा ने कहा—"कहाँ करें महाराज ! कोई अनुरूप वर मिलता ही नहीं ?"

नारदजी ने कहा—"राजन् ! तुम्हारी कन्या के योग्यवर तो मैं जानता हूँ, यदि तुम मेरी बात मानो तो ?"

राजा ने उत्सुकता के साथ कहा—"भगवन् ! यह आप कैसी बात कह रहे हैं। आपकी तो आज्ञा इन्द्र भी नहीं टाल सकते। फिर आप तो मेरे कल्याण की ही बात बतायेंगे। इस कन्या के कारण मैं निरन्तर चिन्तित रहता हूँ।"

नारद जी ने कहा—"राजन ! तुम्हारी कन्या के योग्यवर तो भगवान् वासुदेव हैं। वे शोभा के धाम हैं, उनका वर्ण नूतन जलधरों के समान श्याम है, वे परम रूपवान् और गुणवान् हैं। वे भुवन मोहन जगत् पति हैं। अधिक क्या कहूँ राजन् ! जैसे तुम्हारी पुत्री लक्ष्मी का अवतार है, वैसे ही वे नारायण के अवतार हैं। इसके सर्वथा योग्यवर तो मदन मोहन माधव ही हैं।"

महाराज भीष्मक ने कहा—"भगवन् ! द्वारका नाथ भगवान् वासुदेव के सौन्दर्य की ख्याति मैंने भी सुनी है, ऋषियों के मुख से मैंने यह भी सुना है, वे विष्णु भगवान् के अवतार हैं। वे मेरी कन्या को क्यों स्वीकार करने लगे ?"

नारदजी ने कहा—"यह मेरे ऊपर रहा। भगवान को मैं सहमत कर लूँगा।"

प्रसन्नता प्रकट करते हुए राजा ने कहा—"तब फिर भगवान्। पूछना ही क्या है। आप उन्हें इसके लिये सहमत कर लें। मैं तो इसमें अपना बड़ा सौभाग्य समझूँगा। मेरी कन्या को यदि भगवान् वासुदेव स्वीकार करलें।"

नारदजी ने कहा—"अच्छी बात है, राजन्! मैं अभी द्वारकापुरी जाता हूँ, भगवान् की अनुमति लाता हूँ।" यह कह कर राजा के द्वारा सम्मानित और पूजित होकर देवर्षि नारद चले गये।"

इधर अपनी माताके पीछे बैठी हुई रुक्मिणी जी सब बात सुन रही थीं। उन्हें ऐसा लगा मानो किसी ने मेरे शून्य हृदय पर आकर अधिकार कर लिया हो, कोई मेरे अन्तःकरण में घुस गया हो। श्री नारद जी के मुख से भगवान् का जैसा रूप सुना था, वह उनके मन में बैठ गया। वे अहर्निशि उसी रूप का चिन्तन करने लगीं। सोते जागते, उठते बैठते उन्हें वही रूप दिखाई देने लगा। उन्होंने श्यामसुन्दर के लिये आत्म समर्पण कर दिया। नारदजी के सम्मुख ही राजा ने स्वीकार किया था और रानी ने भी उनकी बात का अनुमोदन किया था, अतः उन्हें निश्चय हो गया कि द्वारकाधीश श्यामसुन्दर ही मेरा पाणिग्रहण करेंगे। वे ही मुझे ग्रहण करके अपनावेंगे। वे मन ही मन नित्य श्यामसुन्दर का चिन्तन करतीं। और भाँति भाँति के मनोरथ किया करतीं।

इधर नारदजी वीणा बजाते, हरि गुन गाते द्वारकापुरी में पहुँचे। नारदजी को देखकर भगवान् सिंहासन से उठ पड़े। विधिवत् उनकी पूजा करके बोले—"कहो नारदजी! कहाँ कहाँ से पधारे?"

नारदजी ने कहा—"कहीं नहीं महाराज आपको अकेले देखकर चित्त भरता नहीं हम तो युगल रूप के उपासक हैं आपको शक्ति सहित देखने को उत्सुक हैं। इसलिये आपके विवाह की बात ठीक ठाक करके आये हैं?"

आश्चर्य की मुद्रा प्रकट करते हुए भगवान बोले—"नारदजी! भला बताइये ऐसा कौन आँख का अन्धा होगा जो हमारा विवाह

करेगा। हम लोग देश छोड़ कर डर के कारण यहाँ समुद्र में भाग कर आये हैं। न हम पर राज न पाट। कौन हमें अपनी कन्या देगा। बलदेवजी को तो जैसे तैसे सत्ययुग की कोई बहुत लम्बी चौड़ी बहू मिल भी गई। उन्होंने उसे हल मूसल से ठोक पीट कर ठीक ठाक कर लिया। अब हमारा कौन विवाह करेगा।"

नारदजी ने कहा—"अजी, महाराज! किसी दूसरे के सामने ऐसी बनावटी बातें किया करो। मैं तो तुम्हारी सब महिमा जानता हूँ। मैं तो आपकी सगाई पक्की भी कर आया। बड़ी ही सुन्दरी सुकुमारी राजकुमारी हैं। वह आपके अनुकूल है और आप उसके अनुकूल हैं। वह यदि सोने की अंगूठी हैं तो आप नीलम के नग हैं। वह चन्द्रिका है तो आप चन्द्र हैं। वह प्रभा है तो आप सूर्य हैं। अधिक क्या कहूँ वह आपके अनुरूप ही है। केवल आपकी स्वीकृति की आवश्यकता है।"

भगवान् ने पूछा—"सुने भी तो सही, उसका नाम गोत्र पता ठिकाना।"

नारदजी ने कहा—"विदर्भाधिप महाराज भीष्मक की वह एक मात्र कन्या रुक्मिणी है। अपने पिता की वह अकेली ही पुत्री है। पाँच उसके भाई हैं। उसकी सुन्दरता के विषय में तो मैं क्या कहूँ, आप यही समझें कि वह साक्षात् मूर्तिमती सुन्दरता ही है। उसके पिता से मैं पक्की कर आया हूँ।

भगवान् अपनी प्रसन्नता को मन ही मन दबाते हुए ऊपर से भोले भाले बन कर बोले—"जब आप पक्की कर ही आये हैं, तो फिर भला मैं आपकी बात को कैसे टाल सकता हूँ। जब आप उसे रूप, शील, बुद्धि, उदारता, सुलक्षण आदि गुणों की खान बताते हैं, तो हमें इसमें क्या आपत्ति होनी है। हम भी आपसे प्रतिज्ञा करते हैं, कि हम विवाह करेंगे, तो रुक्मिणी के साथ करेंगे।"

यह सुनकर नारदजी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने समझ लिया कि अब तो रुक्मिणीजी का विवाह भगवान के साथ हो ही गया, क्योंकि भगवान सत्य प्रतिज्ञ हैं। उन्होंने जो प्रतिज्ञा करली है उसे वे अवश्य पूरा करेंगे।" यह सोचकर, वे पुनः दौड़े दौड़े भीष्मक जी के समीप गये और कहा—"राजन्! आपका मनोरथ पूर्ण हुआ भगवान् ने आपकी पुत्री के सम्बन्ध को सहर्ष स्वीकार कर लिया।"

यह सुनकर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई। रुक्मिणीजी अब तो बाहर से अतिथि ब्राह्मण आते उनसे ही किसी न किसी प्रकार से भगवान के सम्बन्ध में पूछतीं। जो भी आता वही भगवान् के रूप, बलवीर्य, गुण और महान वैभव की प्रशंसा करता। भगवान् के गुणानुवादों को सुन सुन कर उनका अन्तःकरण खिल उठता और चित्त चाहता सदा उन्हीं की कथा सुनते रहें।

राजा के जितने सुहृद् बन्धु बान्धव थे उन सबकी भी सम्मति थी, महारानी भी चाहतीं थीं कि भगवान् ही मेरी पुत्री के पति हों, किन्तु महाराज का जो सबसे बड़ा लड़का रुक्मी था, वह मन ही मन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से द्वेष रखता था। राजा को इस बात का पता नहीं था। एक दिन राजा ने अपने उस बड़े पुत्र को बुला कर कहा—"बेटा! देखो। रुक्मिणी अब बड़ी हो गई है, उसका विवाह अति शीघ्र हो जाना चाहिये। उसकी मुझे सदा चिन्ता बनी रहती है। इसका कहीं सम्बन्ध पक्का हो जाना चाहिए।"

रुक्मी ने पूछा—"आपने कहीं बात चीत की है पिताजी!"

राजा ने कहा—"भैया! बातचीत तो मैंने कहीं की नहीं, किन्तु नारदजी के मुख से मैंने भगवान् वासुदेव की बड़ी प्रशंसा सुनी है, मेरी इच्छा है उन्हीं के साथ रुक्मिणी का विवाह कर दूँ। तेरी इसमें क्या सम्मति है।"

यह सुनकर रुक्मीका तो अन्तःकरण जल भुन गया। उसने सोचा हाय! एक ग्वारिया को मुझे बहनोई कहना पड़ेगा। वह ऊपर से नम्रता दिखाते हुए बोला—"पिताजी! आप बड़े हैं, अब आपके सम्मुख मैं क्या कहूँ, किन्तु आपको अपना पद प्रतिष्ठा का भी तो ध्यान रखना चाहिये। हम मूर्धाभिषिक्त राजा हैं। हमें राजाओं से ही सम्बन्ध करना चाहिये कृष्ण कोई राजा नहीं है। यदुवंशियों को महाराज ययातिका शाप है, उन्हें राजा होने तकका अधिकार नहीं। ये क्षत्रियों से बहिष्कृत माने जाते हैं। फिर कृष्णकी तो जातिका भी पता नहीं कोई उन्हें नन्दगोप का पुत्र कहते हैं कोई वसुदेवका पुत्र। ग्यारह वर्षों तक तो यह अहीरों में रहकर गौएँ चराता रहा। ग्वारिये के साथ अपना बहिन का सम्बन्ध मैं कदापि न करने दूँगा।"

राजा ने सरलता से कहा—"बेटा! वे सर्वज्ञ हैं, भगवान् हैं। सब ऋषि मुनि उन्हें अवतार बताते हैं। उनके सम्बन्ध में ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिये।"

रुक्मी ने क्रुद्ध होकर कहा—"पिताजी! आप उन्हें अवतार मानिये। मैं तो मानता नहीं। अवतार ऐसे ही होते हैं। मैं जरासन्ध के डर से अपने पैतृक नगर को छोड़ कर यहाँ समुद्र में भाग आये। ऐसे कायर भगोड़ों को आप अवतार बताते हैं। मैं आप से स्पष्ट कहता हूँ, यदि आपने रुक्मिणी का विवाह कृष्ण के साथ किया तो मैं विष खाकर मर जाऊँगा। मैं उस ग्वारिया को कभी भी बहनोई न बनने दूँगा।"

राजा ने सोचा—"यह तो घर में ही कलह होना चाहता है। रुक्मी बड़ा लड़का है, वही युवराज है इसकी बात न मानेंगे तो विरोध बढ़ेगा, यही सब सोच समझ कर बोले—"अच्छा, भैया? करने कराने वाला तो तू ही है मैं तो पके आम की भाँति हूँ। पके आमका पता-नहीं कब पेड़ से टपक पड़े

तुझे किसी मूर्धाभिषिक्त राजा के कुमार से ही करनी है तो तू ही जाकर कहीं ठीक कर ले। मैंने श्रीकृष्णचन्द्र से बातें थोड़े ही की हैं। केवल मन में सोचा था। तेरी सम्मति नहीं, तो जाने दे। तू जिसके साथ चाहे पक्की कर ले।"

रुक्मी ने कहा—"पिताजी! मेरी सम्मति तो यह है, कि चेदिदेश के महाराजा दमघोष के पुत्र कुमार शिशुपाल रुक्मिणी के सर्वथा योग्य हैं। वे मूर्धाभिषिक्त महाराजा भी हैं। सम्राट जरासंध के मित्र हैं। पृथिवी में, उनके सदृश बली दूसरा और कोई राजा न होंगा। यह सम्बन्ध सर्वथा हमारे अनुरूप है।"

महाराज भीष्मक ने कहा—"अब भैया! मैंने कह तो दिया, तेरी जो इच्छा हो सो कर। मैं तेरे किसी काम में हस्तक्षेप न करूँगा। तू जाकर शिशुपाल से सम्बन्ध पक्का कर ले।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर रुक्मी चेदिदेश में गया और शिशुपाल के साथ रुक्मिणी का विवाहका पक्का कर आया। सगाई पक्की हो गई। लगन चढ़ गई विवाह की तिथि निश्चित हो गई। जब यह समाचार रुक्मिणीजी ने सुना तो दुःख का ठिकाना नहीं रहा। वे मूर्छित होकर गिर पड़ीं और किंकर्तव्य विमूढ़ा बनकर अपना कुछ भी कर्तव्य निश्चित न कर सकीं।"

छप्पय

नारदादि मुनि आइ कृष्णकी करी बड़ाई।
सुनत रुक्मिनी हृदय माँहिं हरि मूर्ति समाई॥
इत हरि निश्चय करयो रुक्मिनीकूँ अपनाऊँ।
करिके विविध उपाय प्रियाकूँ घर लै आऊँ॥
मातु पिता सहमत सबहिं, हरि बरतैं जग होहि यश।
रुक्मी ने शिशुपाल सँग, करी सगाई द्वेष बश॥

श्रीरुक्मिणीजी का भगवान् को संदेश

[१०८७]

तदवेत्यासितापाङ्गी वैदर्भी दुर्मना भृशम् ।
विचिन्त्याप्तं द्विजं कञ्चित् कृष्णाय प्राहिणोद्द्रुतम् ॥*

(श्री० भा० १० स्क० ५२ अ० २६ श्लो०)

छप्पय

सुनत रुक्मिनी भई दुखित अतिशय घबराई ।
बुलवाये घर विप्र वृद्ध निज विपति सुनाई ॥
प्रेम पत्रिका लिखी विप्रके करमहँ दीन्हीं ।
परि चरननिमें विनय विप्रतैं बहु विधि कीन्हीं ॥
चले द्वारका द्विज तुरत, प्रभु पथको सब श्रम हरयो ।
निरखि विप्रकूँ मुदित मन, है हरिने स्वागत करयो ॥

जब जीव सब ओर से निराश हो जाता है, तो उस निराशामें उसे एक आशाका आलोक दिखाई पड़ता। क्यों न मैं हरिकी शरण जाऊँ. जो असम्भव समझकर घबरा जाते हैं, वे विपत्ति के फंदे में फँस जाते हैं। जो 'भगवान् के लिये असंभव

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अपने बड़े भाई रुक्मी निश्चयको जानकर श्यामनयना विदर्भनन्दिनी श्रीरुक्मिणीजी खिन्न हुईं। फिर कुछ सोच समझकर एक अत्यन्त ब्राह्मण को अत्यन्त शीघ्र भगवान् के समीप द्वारका को

कुछ नहीं उनके लिये सभी संभव है।" इस विश्वास के होते ही, वे भगवान की शरण में जाने पर तुरन्त आपत्ति विपत्ति से छूट जाते हैं। भगवान् का विपत्ति में स्मरण हो आवे और उन्हें अपनी विपत्ति सुनादे, तो वह उस विपत्ति के दल दल से अवश्य ही पार हो जायगा प्राणिमात्र के सुहृद श्यामसुन्दर अपने भक्तों के लिये सम्भव असम्भव कुछ भी नहीं देखते। वे उनकी विनय पर सब कुछ करने को उद्यत हो जाते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवती रुक्मिणीजी ने जब सखियों से यह समाचार सुना कि उनका विवाह चेदिराज शिशुपाल के साथ होगा, तो उसके दुःख का ठिकाना नहीं रहा। वह मन ही मन दुखी हुई। उसे विदित हुआ कि माता पिता मेरे विवाह की सब बातें पक्की कर चुके हैं। उस पर तैल हल्दी भी चढ़ने लगी है। दो चार दिन में शिशुपाल बरात लेकर कुंडिन पुर आ जायगा। हाय, मैं तो अपने हृदय को श्यामसुन्दर को अर्पितकर चुकी हूँ। मेरे अन्तःकरण में तो उनकी मनमोहिनी मूर्तिने घर कर लिया है. मैंने तो अपने तन मनको मनमोहन को समर्पित कर दिया है अब इसे शिशुपाल आदि कोई पर पुरुष स्पर्श कैसे कर सकता है। अब मुझे क्या करना चाहिये। मैं कहीं नदी कूप में गिरकर मर जाऊँ, या विष खालूँ अथवा कंठ में रस्सी बाँधकर फाँसी लगालूँ मेरे मृतक शरीर को फिर चाहे कोई स्पर्श करले।"

इस प्रकार अत्यन्त दुखी होकर भगवती रुक्मिणी सोचने लगीं। सोचते सोचते उन्होंने निर्णय किया—"अभी से आत्म हत्या करने से क्या लाभ! मैं श्यामसुन्दर के समीप अपनी प्रार्थना भेजूँ, वे सर्वज्ञ हैं, सर्व समर्थ हैं, वे चाहेंगे, तो मेरा उद्धार कर सकते हैं। यदि पाणि ग्रहण के पूर्व प्राणधन आगये और मुझे उन्होंने किसी भी प्रकार अपना लिया तब तो उत्तम ही है,

अन्यथा मैं किसी भी प्रकार प्राणों का परित्याग कर दूँगी। जीवितावस्था में अपने कर को किसी दूसरे के कर में न दूँगी।" यही सोच समझकर उन्होंने अपने एक अत्यन्त ही विश्वासपात्र वृद्ध ब्राह्मण को बुलाया। ब्राह्मणों की तो कहीं रोक टोक थी ही नहीं। उनकी तो सर्वत्र अप्रत्याहत गति थी। ब्राह्मणदेव राजकुमारी का बुलावा सुनकर वृद्ध दासी के साथ अन्तःपुर में गये। राजकुमारी रुक्मिणी देवी ने एकान्त में वृद्ध ब्राह्मण की पूजा की और अपने नेत्रों के जल से उनके चरणों को भिगो दिया।

वृद्ध ब्राह्मण ने प्यार के सहित कहा—"बेटी! तुम इतनी दुखी क्यों हो? तुम्हें कौन-सा कष्ट है? अपनी अधीरता के कारण को मुझे बताओ तुम क्यों इस प्रकार फूट फूटकर रो रही हो, क्यों इतनी विकल हो रही हो?"

रुक्मिणी जी ने कहा—"देव! मैं दुःख सागर में डूब रही हूँ सब ओर से निराश हो रही हूँ। केवल एक मात्र आपका ही सहारा है। आप यदि मुझे न उबारेंगे, तो मैं निश्चय ही आत्म-हत्या कर लूँगी।"

वृद्ध ने कहा—"पुत्री! तुम अपने दुःख का कारण मुझे बताओ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं अपनी शक्ति के अनुसार प्राणों का प्रण लगाकर तेरे कार्य को करूँगा। मुझसे जो हो सकेगा, उसे करने में मैं कभी भी न चूकूँगा।"

रुक्मिणीजी ने कहा—"पिताजी! मुझे कहने में लज्जा लगती है, किन्तु बिना कहे काम भी नहीं चलता अतः मैं संकोच छोड़कर कहती ही हूँ मैंने अपना अन्तःकरण द्वारकानाथ भगवान्

श्यामसुन्दर को समर्पित कर दिया है, किन्तु मेरे माता पिता मेरे अभिप्राय को बिना जाने ही मेरा विवाह चेदिदेश के राजा से कर रहे हैं आप मेरे इस पत्र को द्वारकानाथ के चरणों में पहुँचा दें, फिर वे जो चाहें सो करें। यद्यपि वे सर्वज्ञ हैं, सब कुछ जानते हैं, फिर भी भक्त का कर्तव्य है अपने स्वामी के सम्मुख विज्ञापन कर दे। उन्हें अपनी विनय सुना दे।"

चिन्तित होकर ब्राह्मण ने कहा—"बेटी! यह तो कठिन बात है। विवाह के अब दो ही चार दिन तो रह गये हैं। मैं बूढ़ा हूँ, इतनी दूर पैदल पहुँच भी नहीं सकता। फिर मैं समय से पूर्व देश कैसे पहुँचा सकता हूँ।"

रुक्मिणीजी ने कहा—"आप उनकी ओर चल पड़े। अपने समीप पहुँचाने का भार उनके ऊपर है। जीव कर्म ही कर सकता है, उसका फल देनेवाले तो वे ही हैं। संभव असंभव तो हम लोगों के लिये है, उनके लिये तो कुछ असंभव है ही नहीं।"

ब्राह्मण ने कहा—"अच्छी बात है, प्रयत्न करना हमारा काम है उसका फल भगवान् के हाथ में है। मैं अपने प्रयत्न में शिथिलता न करूँगा। मुझे वहाँ जाकर क्या करना होगा?"

रुक्मिणीजी ने कहा—"आप इस मेरी प्रेमपाती को उनके चरणों में समर्पित कर दें और वे आपसे इसे पढ़ने को कहें, तो विस्तारके सहित व्याख्या करके सुना दें। मेरी सब स्थिति भी उन्हें समझा दें। फिर उन्हें जैसा उचित जान पड़ेगा वैसा वे करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवती रुक्मिणी देवी की यह बात सुनकर और उनसे पत्र लेकर वृद्ध ब्राह्मण द्वारका की ओर चल दिये। वृद्ध शरीर रास्ता भी ऊबड़ खाबड़ लठिया टेकते-टेकते कुछ दूर चले। आगे चलकर थक गये। सामने एक अत्यन्त सुन्दर वाटिका देखी वहाँ उन्होंने जल पिया। एक सघन वृक्ष की छाया में वे लेट गये और सो गये।

इधर सर्वज्ञ भगवान् ने सोचा—"इस प्रकार यह ब्राह्मण चलेगा तब तो यह वर्ष भर में भी द्वारका नहीं पहुँच सकता। मेरी प्रिया को एक एक पल भारी हो रहा है। यह सोचकर उन्होंने योगमाया को आज्ञा दी। भगवान की आज्ञा से योगमाया क्षण भर में ही उन्हें सोते हुए ही उठाकर द्वारका ले आई। वहाँ उसने द्वारका के एक सुन्दर उपवन में उन्हें ज्यों का त्यों सुला दिया।

कुछ काल में जब वृद्ध ब्राह्मण आँखों को मलते हुए उठे, तो सामने उन्होंने अगाध समुद्र देखा उसके भीतर सुवर्ण की बनी द्वारकापुरी देखी और अपने को द्वारका के ही एक उपवन में पाया। लोगों से उन्होंने पूछा—"यह कौन सा नगर है।"

लोगों ने बताया—"यह द्वारकापुरी है।"

अत्यन्त आश्चर्य प्रकट करते हुए ब्राह्मण ने कहा—"अरे, मैं तो कुण्डिनपुर के उपवन में सो रहा था। सोते ही सोते द्वारका कैसे आ गया। यह तो बड़े आश्चर्य की बात है।"

लोगों ने कहा—"आप सोते सोते आये हैं या बैठे बैठे इसे तो आप जानें, वैसे है यह द्वारकापुरी ही। इसमें कोई संदेह की बात नहीं।"

ब्राह्मण ने विस्मय के साथ कहा—"लगती तो मुझे भी द्वारकापुरी ही है, किन्तु मैं इतनी शीघ्रता से यहाँ कैसे आ गया। अस्तु कोई बात नहीं भगवान् की माया है। अच्छा, आप लोग यह बतावें कि यहाँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी का भवन कहाँ है।"

लोगों ने हँसते हुए कहा—"विप्रवर! आप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी के उपवन में ही आराम कर रहे हैं। यह सामने ही सुवर्ण का बना भगवान का महल है। भगवान ब्रह्मण्यदेव हैं, उनके यहाँ ब्राह्मणों के लिये रोक टोक नहीं। आप प्रतिहारी से कह दें, वह आपको भगवान् के समीप ले जायगा।"

यह सुनकर वृद्ध ब्राह्मण अपने टाट कमंडलु उठाकर चल दिया। द्वारपालों ने ज्यों ही वृद्ध ब्राह्मण को देखा, त्यों ही वे सबके सब उठकर खड़े हो गये और उनका अभिप्राय जानकर बड़े आदर के सहित उन्हें राजभवन के भीतर ले गये। भीतर जाकर ब्राह्मण ने देखा आदिपुरुष भगवान् वासुदेव एक रत्नों से मंडित सुवर्णमय सिंहासन पर विराजमान हैं। ब्रह्मण्यदेव भगवान ने ज्यों ही वृद्ध ब्राह्मण को अपनी ओर आते देखा, त्यों ही वे सिंहासन से उठकर खड़े हो गये। बड़े आदर से उनका स्वागत सत्कार किया, एक उत्तम आसन पर उन्हें बिठाया। फिर सेवकों से शीघ्र ही पूजा की समस्त सामग्री मँगाई। जैसे देवेन्द्र वृहस्पतिजी की पूजा करते हैं, भक्त भगवान् की पूजा करते हैं वैसे ही भगवान् ने

उस ससुराल के वृद्धपुरोहित की पूजा की। जो पत्नी का पूज्य है वह अपना भी पूजनीय है। सुन्दर सुवासित जल से स्नानादि कराके विधिवत् पूजन करके उन्हें सुन्दर स्वादिष्ट लुच लुच कुरकुरे मुरमुरे छप्पन प्रकार के भोजन कराये। जब ब्राह्मणदेवता भोजनों से निवृत्त हो गये, तो भगवान् ने उन्हें सुन्दर शैया पर सुला दिया और आप उनके चरणों के समीप बैठ कर शनैः शनैः अपने कमल सदृश कोमल करों से चरणों को दबाने लगे। भगवान् को तो चटपटी लगी हुई थी, अतः एकान्त अवसर देखकर वे पूछने लगे—"विप्रवर! आप कुण्डिनपुर से पधारे हैं, यह बात तो मैंने सुन ली है। अब आप प्रथम अपनी कुशल बतावें। आपका चित्त सदा सन्तुष्ट रहता है न? क्योंकि सन्तोष ही ब्राह्मण का परम धन है। आपका जो पिता पितामह तथा प्रपितामह आदि से चला आया हुआ जो धर्म है उसका आपके द्वारा भली-भाँति निर्वाह होता है न? स्वधर्म पालन करने में आपको किसी प्रकार की कठिनता तो प्रतीत नहीं होती? रुपया पैसा ब्राह्मण का धन नहीं है। सन्तोष ही उसका परम धन है। यदि ब्राह्मण यदृच्छालाभ सन्तुष्ट रहकर अपने धर्म से पतित नहीं होता, तो इसीसे उसकी समस्त कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। भली-भाँति रक्षित धर्म रक्षा करने वाले की सदा रक्षा किया करता है। सुख सदा सन्तोष में है। यदि मन में सन्तोष है, तो नीवारों से निर्विवाह करने में भी बड़ा सुख मिलता है, यदि मन में संतोष नहीं तो इन्द्रपदवी पाकर भी सदा अशान्त बनी रहती है। वह सुख की आशा से एक लोक से दूसरे लोक में भटकता रहता है। संतोषी सदा शान्त भाव से रहता हुआ संताप रहित तथा सुखी होता है। जो आत्म लाभ में सन्तुष्ट हैं, साधु स्वभाव के हैं, समस्त प्राणियों के परम सुहृद् हैं, अहंकारहीन हैं तथा शान्त स्वभाव के हैं उन ब्राह्मणों में श्रद्धासहित सिर से प्रणाम करता हूँ।"

ब्राह्मण बोले—"प्रभो! आप ऐसा क्यों न कहेंगे। आप तो ब्रह्मण्यदेव हैं। स्वयं जगद् पूज्य होकर भी जो आप ब्राह्मणों को इतना सम्मान देते हैं यह आपकी महत्ता है। आपके भक्त महाराज भीष्मक के राज्य में रहकर हम यथा शक्ति धर्म का जैसे हो सकता है पालन करते हैं।

इस पर भगवान ने कहा—"अच्छा, हाँ, तो ब्रह्मन्! आप जिन के राज्य में निवास करते हैं, वे राजा सपरिवार कुशल पूर्वक तो हैं न? राजा की ओर से आप लोगों को असुविधा तो नहीं है। देखिये, विप्रदेव जिस राजा के राज्य में प्रजा का भली भाँति पालन होता है, जिस राजा के शासन से प्रजा के लोग सन्तुष्ट रहते हैं, वह राजा मुझे अत्यन्त ही प्रिय है।"

ब्राह्मण ने कहा—प्रभो! जो आपके भक्त हैं, वे सर्वत्र आपको ही देखते हैं प्रजा का पुत्रवत् पालन करते हैं विदर्भ नरेश तो आपके अनन्य भक्त हैं, उनके राज्य में प्रजा के लोगों को तथा साधु ब्राह्मणों को असुविधा कैसे हो सकती है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, ये सब बातें तो पीछे होंगी प्रथम आप अपने आने का मुख्य कारण बताइये। किस कारण से आपने मेरे ऊपर कृपा की?"

ब्राह्मण ने कहा—"वैसे ही भगवन्! आपके दर्शनार्थ चला आया।"

भगवान बोले—अजी, महाराज! छिपाते क्यों हो? जो यथार्थ बात हो उसे बता दो। इतने बड़े समुद्र की खाई को पार करके केवल आप दर्शनों के ही लिये नहीं आये होंगे। कुछ न कुछ तो कार्य अवश्य ही होगा, जो कार्य हो आप बिना संकोच के बताइये। यदि वह कोई गोपनीय भी बात हो, तो उसे स्पष्ट कह दें यहाँ और कोई है भी नहीं। आप और हम दोनों अकेले ही हैं। आप आज्ञा करें। मैं आपकी कौन सी सेवा करूँ?"

यह सुनकर ब्राह्मण ने कहा—"महाराज! यथार्थ बात तो यह है, कि मैं कुण्डनपुर नरेश महाराज भीष्मक की कन्या रुक्मिणी का भेजा हुआ आपकी सेवा में आया हूँ। उसने अपना सर्वस्व मन ही मन आपके चरणों में अर्पण कर दिया है। राजा की तो इच्छा थी, वह आपके साथ उसका विवाह करते, किन्तु राजा का एक बड़ा लड़का रुक्मी अत्यन्त खल प्रकृति का है, वह आप से द्वेष करता है। अतः उसने चेदिराज शिशुपाल के साथ अपनी बहिन का विवाह करना निश्चय कर लिया है। बड़ा पुत्र समझकर राजा रानी भी उसके कार्य में हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझते, किन्तु राजकुमारी आपके अतिरिक्त किसी अन्य को स्पर्श करना भी नहीं चाहती। अतः उसने आपके पास मुझे भेजा है।"

भगवान् ने कहा—"वैसे ही भेजा है या कोई चिट्ठी पत्री भी दी है?"

ब्राह्मण ने कहा—'हाँ महाराज उसने अपने हाथों से लिखकर उस पर कुंकुम छिड़ककर पाती पठाई है, लीजिये आप इसे पढ़ लें।"

भगवान् ने सोचा—"पीरी चिट्ठी और लगन पत्री को तो ब्राह्मण ही खोलता है, ब्राह्मण ही पढ़कर सुनाता है। वर अपने विवाह की पीरी चिट्ठी को स्वयं थोड़े ही पढ़ता है।" यही सब सोच समझकर भगवान् बोले—"अच्छी बात है महाराज! आप ही इस पाती को पढ़कर मुझे सुनावें। इसकी व्याख्या भी साथ ही करते जायँ जिससे मैं भली प्रकार समझ जाऊँ। समय का संकोच न करें। प्रेम की बातों को बार बार विस्तार पूर्वक सुनने से बड़ा सुख मिलता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् की आज्ञा पाकर

ब्राह्मण देवता उठकर बैठ गये और वे पत्री को खोल कर खाँस मठार कर गम्भीरता के साथ पत्र पढ़ने को प्रस्तुत हुए। अब जिस प्रकार ब्राह्मण देवता रुक्मिणीजी की पाती को विस्तार पूर्वक सुनावेंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आप सब समाहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

करि पूजा पकवान प्रेम तैं विविध खवाये।
पुनि शैया अति सुखद बिछाई विप्र सुवाये॥
लगे पलोटन चरन कुशल पूछत प्रभु पुनि पुनि।
वैदर्भी की कथा भये प्रमुदित यदुवर सुनि॥
पीरी पाती निरखिकें, अति प्रसन्न मन महँ भये।
वृद्ध विप्र बाँचन लगे, प्रेम मग्न हरि ह्वै गये॥

श्रीरुक्मिणीजी का प्रेम पत्र

(१०८८)

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम् ।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभम्,
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ॥❀
(श्री भा० १० स्क ५२ अ० ३७ श्लो०

छप्पय

लिखे रुक्मिनी—"दयित ! भयो मम मन मतवारो ।
सुनि गुन अनुपम रूप लिख्यो हिय चित्र तिहारो ॥
हे हरि ! अशरन शरन आइ दासी अपनाओ ।
खल शृगाल शिशुपाल हरे नरसिंह छुड़ाओ ॥
यदि आवें नहिं आप तो, विष खाऊँ मरि जाउँगी ।
तुम बिनु चाहे मदन हू, आवे नहिं अपनाउँगी ॥

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! अपने पत्र में श्रीरुक्मिणीजी श्रीहरि के लिये लिखती हैं—"हे भुवन सुन्दर ! आपके गुणों की प्रशंसा सुनकर जो श्रवण करने वालों के कर्ण कुहरों में प्रविष्ट होकर उनके शारीरिक सन्तापों को शान्त करते हैं तथा आपके उस रूप की प्रशंसा सुनकर जो दृष्टि वालों की दृष्टि के लिये अखिलार्थ लाभप्रद है मेरा निर्लज्ज चित्त आप में ही लग गया है । अब मेरा चित्त किसी ओर का चिन्तन ही नहीं करता मैं क्या करूँ ।"

प्रेम की बातें मुख से नहीं कही जातीं, सम्मुख कहने में संकोच होता है। उन्हें या तो नेत्रों से या अन्य संकेतों से प्रकट करते हैं अथवा लिखकर व्यक्त करते हैं। लिखते समय प्रियतम की भावनामयी मूर्ति आँखों के सम्मुख बनी रहती है, भावमयी मूर्ति से बातें करने में संकोच नहीं होता, अतः हम लेखनी द्वारा लिखकर अपने भावों को निःसंकोच होकर व्यक्त कर देते हैं। उसी को जब प्रियतम सुनते हैं तो वे भी प्रेम में निमग्न हो जाते हैं। लेख अपने हृदय का चित्र है। हृदय साक्षात् रूप से खोलकर तो दिखाया नहीं जा सकता। लेख में उसकी छाया उतर आती है। उस छाया को देखकर ही हृदय का दर्शन हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् वासुदेवजी ने कुण्डिनपुर के वृद्ध ब्राह्मण से रुक्मिणीजी के पत्र को पढ़कर सुनाने की प्रार्थना की, तब वे विप्रवर मृदुल तकिये के सहारे उठकर बैठ गये और कहने लगे—"भगवन्! मैं व्याख्या सहित इस पत्र को सुनाऊँगा, जब तक मैं पूरे पत्र को न सुना दूँ, तब तक आप बीच में बोलें नहीं। मुझे टोकें नहीं।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है आप सुनाइये। मैं आपकी राजकुमारी के पत्र को ध्यान पूर्वक श्रवण करूँगा।"

यह सुनकर वृद्ध ब्राह्मण ने कलावे से बँधी उस प्रेम पाती को यत्न से खोला, जिससे तार टूटने न पावे। खोलकर वे सावधानी के साथ खाँस खखारकर पढ़ने लगे।

ब्राह्मण कहने लगे—"प्रभो! राजकुमारी रुक्मिणी ने आपको सम्बोधन करके लिखा है—'हे अच्युत! आप समस्त सद्गुणों की खान हैं। जितने भी संसार में सद्गुण हैं, वे सब आप में पूर्णरीत्या विद्यमान हैं। आपके उन गुणों में इतना आकर्षण है, कि वे श्रवण करने वालों के कर्णकुहरों द्वारा हृदय में सुगमता से प्रविष्ट हो जाते हैं। हृदय में पहुँचकर वे जैसे सूर्य उदित होकर

अन्धकार का नाश करते हैं, उसी प्रकार आपके गुण सर्व प्रथम शारीरिक और मानसिक सन्तापों को शान्त कर देते हैं। हृदयमें जो सांसारिक विषयों के प्रति आदर भाव था, वह नष्ट हो जाता है और चित्त ऐसा उतावला बन जाता है, कि सदा आपके गुण सुनने को ही व्यग्र बना रहता है। जिन बडभागियों को आपके त्रिभुवन सुन्दर स्वरूप के दर्शन हो जाते हैं उनके नेत्र सफल बन जाते हैं नेत्र पाने का फल उन्हें पूर्णरीत्या प्राप्त हो जाता है। उनके नयन कृतार्थ हो जाते हैं फिर उन्हें देखने को कुछ अवशेष रह ही नहीं जाता।

मैंने अभी तक श्रवणों द्वारा आपके गुणों को श्रवण ही किया है, नयनों को अभी दर्शनों का देव दुर्लभ सुयोग प्राप्त नहीं हुआ है। सुनकर ही मेरा चित्त आपकी ओर खिंच गया है और उसने दृढ़ निश्चयकर लिया है, कि त्रिभुवन में आपसे सुन्दर कोई है ही नहीं।

आप कह सकते हैं, कि त्रिभुवन में सो एकसे एक सुन्दर पुरुष पड़े हैं। पड़े रहें, मेरे मन में तो आपकी ही मनोमयी मूर्ति समागई है। वह किसी भी प्रकार से निकल नहीं सकती। जिसके चित्तको जो वस्तु पूर्णरीत्या अपनी ओर आकर्षित कर लेती है, उसके लिये उससे बढ़कर सुन्दर संसार में कोई है ही नहीं। आप कहें—"तुम कुलवती युवती हो, राजकुमारी हो, उत्तम कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है। कुमारी कन्याओं को किसी अपरिचित पुरुष से ऐसी बातें कहना बड़ी लज्जा की बात है।" सो, हे अच्युत! मैं इस बात को जानती हूँ, किन्तु करूँ क्या, इसमें मेरा कोई दोष नहीं। यदि दोष है तो आपके रूप और गुणोंका है। उन्होंने मेरे अन्तःकरण से लज्जा को उखाड़कर फेंक दिया है। मेरा चित्त निर्लज्ज बन गया है। आपके सम्मुख यह स्वीकार करने में मुझे तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं होता, कि

मेरा मन सर्वात्म भावसे आपमें ही लग गया है। वह श्याम रङ्गमें रङ्ग गया और ऐसा गहरा रङ्ग उस पर चढ़ा है, कि वह किसी प्रकार प्रयत्न पूर्वक उतारने पर भी उतर नहीं सकता। अहर्निशि आपकी मनमोहिनी मूर्ति मेरे मन में बसी रहती है। मेरा मन आपके रूप जाल में फँस गया है।

आप कहेंगे—"तुम मुझे क्यों चाहती हो ?" सो हे मुकुन्द ! इसका भी उत्तर सुनो। कुलवती कन्यायें जब बाल, पौगण्ड और किशोरावस्थाओं का पार करके युवावस्था में पदार्पण करती हैं, तो वे अपने भावी पतिकी एक मनोमयी मूर्ति बनाती हैं। वे चाहती हैं, मेरा पति कुलीन हो, सुशील हो, युवक हो और विद्वान् हो। उसकी अवस्था अधिक न हो, युवक हो और धन धान्य से समृद्ध हो तथा मेरे मन को हरने वाला हो। मुझे विश्वास है आप कुल, शील, रूप, विद्या, सदाचार अवस्था तथा धन धामादि में आत्म-तुल्य ही हैं, अर्थात् आपकी समता करने वाला संसार में दूसरा व्यक्ति ही नहीं फिर अधिक तो कोई हो ही कैसे सकता है आप मेरे ही मनको हरण करने वाले हों सो बात नहीं आप प्राणिमात्रका अपनी ओर हठात् आकर्षित करनेवाले हैं, तभी तो आपका नाम "कृष्ण" है। अब आप ही बतावें, विवाह का समय उपस्थित होने पर ऐसी कौन सी कुलवती गुणवती रूपवती कुमारी कन्या होगी, जो आपकी ओर मन न चलावेगी, आपको पति रूप में वरण न करना चाहेगी।" यदि यह बात है, तो विवाह का समय उपस्थित होनेपर मैंने आपको अपना पति बनाना स्वीकार किया है, तो इसमें कौनसा पाप मैंने किया है। इस लिये हे परम प्रेमास्पद ! हे प्राणप्यारे ! मैं स्पष्ट कहती हूँ, मैंने मन ही मन आपको पति रूप से वरण कर लिया है। मैं सर्वात्मभाव से आपको आत्म समर्पण कर चुकी हूँ। यह मैं जानती हूँ, कहाँ आप त्रिभुवनपति कहाँ मैं अत्यन्त क्षुद्र मन्दमति स्त्री। फिर भी मैं ऐसा

करनेको विवश हो गई हूँ। आप मेरा ओर न देखें। अपने शरणागत वत्सल नामकी ओर निहारें। आपकी प्रतिज्ञा है, जो सर्वात्मभावसे मेरी शरणमें जाते हैं, उन्हें मैं अवश्य ही अपनाता हूँ। यदि मेरे आत्म समर्पणमें कोई त्रुटि हो, तो उसे भी आप ही दूर करके आप यहाँ पधारें और मुझे पत्नी रूपमें स्वीकार करें।

आप कहेंगे—"तू इतनी व्यग्र क्यों हो रही है। जब तैंने मुझे आत्म समर्पण कर ही दिया है, तो कभी न कभी आकर मैं अपना ही लूँगा। सो, हे कमल नयन! इस प्रकारकी ढिलाईसे काम नहीं चलेगा। आप शीघ्रता करें, मेरे घर वाले मुझे शिशुपालको देना चाहते थे। जैसे अग्निके भागको श्वान काक सूँघ ले तो वह हवनके योग्य नहीं रहता, जैसे सिंहके शिकारको सियार मार दे, तो फिर सिंह उसका स्पर्श नहीं करता, इसी प्रकार यह शृगाल रूप शिशुपाल मुझे स्पर्श करना चाहता है, उसने यदि मुझे स्पर्श कर लिया तो न तो मैं उसीके कामकी रहूँगी और न आपके ग्रहण करने योग्य रहूँगी। अतः जब तक वह सियार मुझे छूता नहीं तभी तक आकर सिंहकी भाँति वीरता पूर्वक अपने भागको सियारोंके बीचसे उठा ले जाओ। मैं आपकी हूँ और आपकी ही बनकर रहूँगी, दूसरा मुझे स्वप्नमें भी स्पर्श नहीं कर सकता।

मैं तो समस्त देवी देवताओंसे और आपसे भी मनाती हूँ, कि मैंने इस जन्ममें अथवा जन्मान्तरोंमें मैंने कोई सुकृत कर्म किया हो, कोई कुआ खुदवाया हो, तालाब, बाग बगीचा बनवाया हो, यज्ञयाग आदि शुभ कर्म किया हो, सुयोग्य पात्रको दान दिया हो, कोई सुन्दर नियम पाला हो, किसी उत्तम व्रतका आचरण किया हो, देवताओंका, ब्राह्मणोंका तथा गुरुओंका श्रद्धा सहित विधिवत् पूजन किया हो, आपका किसी भी प्रकार

आराधन किया हो, तो इन सबका एक मात्र फल मुझे यही मिले, कि आप आकर मेरा पाणिग्रहण करें। शिशुपाल आदि कोई भी अन्य पुरुष मेरा स्पर्श न करने पावे। सर्वत्रसे निराश होकर ही मैंने आपके चरणोंकी शरण ली है, ऐसा साहसपूर्ण कार्य किया है, इतनी निर्लज्जता धारण की है। आप मेरे विवाहके पूर्व किसी प्रकार कुन्डिनपुर आ जाओ और भाँमर पड़नेके पूर्व ही मुझे यहाँसे ले जाओ। मेरे विवाहमें अब देरी नहीं है। यहाँ सब तैयारियाँ हो गई हैं। कल बरात आ जायगी। एक दिन रहकर दूसरे दिन विवाह की लग्न है। अतः आप विवाहके पूर्व दिन अपने यादव सेनापतियों के साथ गुप्त रूपसे विदर्भ देश की राजधानी कुन्डिनपुरमें आ जायें और शिशुपाल तथा उसके साथी जरासन्धादि की सेनाओं को नष्ट भ्रष्ट करके बल पूर्वक मुझे उठा ले जायँ। क्षत्रियों के लिये राक्षस विधि से कन्या का ग्रहण करना उत्तम माना गया है। मैं तो वीर्य शुल्का हूँ। वीर्य रूप शुल्क चुकाकर आप राक्षस विधि के अनुसार मेरे साथ विवाह कर लें।"

आप कहेंगे—"तुम तो अन्तःपुर में रहती हो, मैं तुम्हें कैसे पा सकता हूँ।" सो उसका भी उपाय मैं आपको बताये देती हूँ, सुनिये। हमारे कुल की प्रथा है, कि जिस कन्या का विवाह होता है, उसके विवाह के एक दिन पूर्व नववधू को कुलदेवी की पूजा करने नगर से बाहर देवीजी के मन्दिर में जाना पड़ता है। यह देवी पूजन यात्रा बड़ी धूमधाम से होती है। कन्या अपनी सखी सहेली तथा वृद्धाओं के साथ जाकर नगर के बाहर श्रीपार्वतीजीके मन्दिर मे जाकर उनका पूजन करती है। पिताजीकी ओरसे नगर से मन्दिर तक सेनाका प्रबन्ध होता है। कुमारी कन्या पैदल ही जाती है। जब मैं देवीकी यात्राको जाऊँ और पूजन करके लौटूँ उसी समय आप बलपूर्वक मुझे रथमें बिठाकर शत्रुओंके मानको

मर्दन करते हुए मुझे द्वारका ले जायँ। ऐसा करनेसे आपका काम भी बन जायगा और मेरे परिवार वालोंको भी आपको न मारना पड़ेगा।

मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है, कि आप इस दासी की इस विनती पर अवश्य ध्यान देंगे। मुझ अवला की प्रार्थना स्वीकार करके मुझे कृपा प्रसाद प्रदान करने। देखिये, त्रिभुवनपति भगवान् शङ्कर भी आपके नामों को निरन्तर रटते रहते हैं। बड़े बड़े महत् पुरुष भी अपने अन्तःकरण के अज्ञानको नष्ट करनेके निमित्त आपके चरणकमलोंकी रजमें स्नान करनेके निमित्त व्यग्र बने रहते हैं। ऐसे आप देवाधिदेव क्या मुझ असहाय अवलाके ऊपर प्रसन्न न होंगे। क्या आप अपनी कृपा का प्रसाद मुझे प्रदान न करेंगे। आप विश्वास रखें यदि आप समयसे पूर्व यहाँ न पधारे, तो फिर मुझे आप जीवित न पावेंगे, मैं कहीं वनोंमें भाग जाऊँगी और यही संकल्प करके कि आगामी जन्म में मेरे पति भगवान् वासुदेव हों, इस नश्वर शरीर को विना खाये पिये सुखाकर त्याग दूँगी। फिर जन्म होगा तो फिर भी ऐसा ही करूँगी। जब तक आप मुझे पत्नी रूप में ग्रहण न करेंगे तब तक ऐसा ही करती रहूँगी, फिर चाहे मुझे सैकड़ों जन्म क्यों न लेने पड़ें।"

हे कमलनयन! अधिक क्या लिखूँ, मैंने अपने मनकी बात बता दी। अपना कर्तव्य मैं समाप्त कर चुकी, अब आपको जो उचित जान पड़े, आप करें। मैं हूँ आपके चरणकमलोंकी जन्म-जन्मान्तरों की दासी—रुक्मिणी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पत्रको समाप्त करके ब्राह्मणदेव नेत्रों को पोंछते हुए चुप हो गये। और भगवान् ने भी पीताम्बर से नेत्र पोंछे। उनका कंठ गद्गद् हो गया था,

वे कुछ भी न कह सके। कुछ काल तक दोनों ही मौन बने रहे।"

छप्पय

कमल नयन ! सजि सेन तुरत कुण्डिनपुर आओ।
रिपु सिरपै धरि चरन मोहिँ माधव ! ले जाओ॥
जाउँ व्याहके प्रथम दिवस देवी पूजन हित।
लैकें भागें मोहि नहीं क्षत्रिय कूँ अनुचित॥
दीनबन्धु दुख हरन यदि, दया न दासी पै करहिँ।
तौ तब तक जनमू मरूँ, जब तक नहिँ यदुवर वरहिँ॥

विवाहार्थ श्रीहरिका कुण्डिनपुरको प्रस्थान

(१०८६)

आरुह्य स्यन्दनं शौरिर्द्विजमारोप्य तूर्णगैः ।
आनर्तादेकरात्रेण विदर्भानगमद्धयैः ॥*

(श्रीभा० १० स्क० ५३ अ० ६ श्लो०)

छप्पय

सुन्यो प्रिया को पत्र नयन हरि के भरि आये।
प्रेम विवश ह्वै गये विप्र कूँ बचन सुनाये॥
द्विजवर! मोकूँ प्रिया रुक्मिनी अतिशय भावै।
करि करि वाकी याद रैंन महँ नींद न आवै॥
चलो चलें कुँडिनपुरी, अब द्वै दिन ही रहि गये।
सजि रथ द्विज कूँ संग लै, वधू हरन हरि चलि दये॥

भगवान् का न जन्म है न मरण। उनका न कुछ कर्तव्य है न अकर्तव्य। उनका न कोई रूप है न नाम। फिर भी वे भक्तों के निमित्त रूप रखकर उनकी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं। भक्तों की इच्छा ही उनकी इच्छा है। भक्तों के निमित्त वे सब कुछ करने

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् उन कुण्डिनपुर के विप्र को रथ पर चढ़ाकर स्वयं भी उस पर सवार हुए और अत्यन्त शीघ्रगामी घोड़ों द्वारा एक ही रात्रि में द्वारकापुरी से विदर्भ देश में पहुँच गये।"

को उद्यत हो जाते हैं, इसीलिये उन्हें "भक्तवांछाकल्पतरु" कहते हैं। वे भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त सदा कातर बने रहते हैं। वे और सब कुछ सह सकते हैं किन्तु भक्तों के कष्टों को अधिक दिनों तक सहन नहीं कर सकते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब वृद्ध ब्राह्मणदेव रुक्मिणीजी के पत्र को सुना चुके तब भगवान् सुनकर कुछ देर तक मौन रहे। ब्राह्मण भी चुप हो गये। महल में स्तब्धता छा गई। उस स्तब्धता को भंग करते हुए कुछ काल के पश्चात् विप्रदेव कहने लगे—"प्रभो ! मैंने राजकुमारी रुक्मिणीजी का सन्देश उन्हीं के शब्दों में सुना दिया। राजकुमारी ने मुझे अत्यन्त विश्वासपात्र समझकर ही यह अति गुप्त संदेश मेरे द्वारा आपके पास पठाया है। अब इस विषय में जो भी आपको करना हो, उसे अविलम्ब कर डालिये। देरी करने का काम नहीं है। कुमारी की दशा अत्यन्त ही दयनीय है। वह कीच में पड़ी मछली की भाँति बिल बिला रही है। आप तो उसे जानते भी न होंगे, किन्तु उसके हृदय में आपके प्रति अत्यन्त ही अनुराग है। विलम्ब होने पर किसी भारी अनर्थ की सम्भावना है। आप एक अपरिचिता अबला का जो आपकी भक्ता है अनुरक्ता है उद्धार करें उसके ऊपर अनुग्रह करें। वह निरन्तर आपका ही चिन्तन करती रहती है।"

ब्राह्मण के मुख से "अपरिचिता" सुनकर भगवान् को हँसी आ गई और हँसते हुए प्रेमपूर्वक ब्राह्मण के हाथ को अपने हाथ में लेकर अत्यंत ही मधुर वाणी में कहने लगे—"विप्रदेव ! रुक्मिणी मेरे लिये अपरिचिता नहीं है। हे द्विजर्षभ प्रेम कभी एक ओर से नहीं होता। यह संभव नहीं कि जो हमसे प्रेम करे उसके प्रति हमारे हृदय में अनुराग न हो। कुत्ते से प्रेम करो वह भी पूँछ हिलाकर पैर चाटेगा। सिंह भी प्रेम के कारण पीछे पीछे फिरेगा। और की तो बात ही क्या हृदय से पाषाण से भी प्रेम किया जाय,

तो वह भी पिघल जायगा, फिर सजीव मनुष्य की तो बात ही क्या। जिस प्रकार तुम्हारी राजकुमारी मेरे लिये व्याकुल रहती है, उसी प्रकार मैं भी उसके लिये सदा व्याकुल बना रहता हूँ। दिन में निरन्तर उसी का चिन्तन करता हूँ। रात्रि में मुझे उसकी स्मृति में निद्रा तक नहीं आती। कभी क्षण भर को आँखें झप भी जाती हैं तो उसी के स्वप्न देखता हूँ। पूरी रात्रियाँ करवट बदलते बदलते ही बितानी पड़ती हैं।"

ब्राह्मण ने कहा—"क्यों न हो, भगवान ! प्रेम तो पूर्वजन्मों के सम्बन्धों से होता है। अवश्य ही वे पूर्वजन्मों में आपकी पत्नी रही होंगी, तभी आप दोनों में इतना स्वाभाविक सहज अनुराग है। महाराज भीष्मक की तो सोलह आने इच्छा थी, कि कुमारी का विवाह आपके ही साथ हो, किन्तु बड़े राजकुमार ने सब गुड़ गोबर कर दिया। उन्होंने ही गड़बड़ सड़बड़ कर दी।"

भगवान् ने बल देकर कहा—"ब्राह्मणदेव ! कोई बात नहीं। मैं सब जानता हूँ। रुक्मी खल स्वभाव का है, उसने द्वेष वश अपनी बहिन का विवाह मेरे साथ होते होते रोक दिया है। किन्तु उसके रोक देने से क्या होता है। आप देखें, किस प्रकार मैं अपनी प्रिया के मनोरथ को पूर्ण करता हूँ। जैसे स्त्रियाँ दही को मथकर उसमें से माखन को निकाल लेती हैं, जैसे तैल पेरने वाले तिलों में से तेल निकाल लेते हैं, जैसे यज्ञ करने वाले अरणियों को मथकर उसमें से अग्नि निकाल लेते हैं, उसी प्रकार इन दुष्ट राजाओं की सेना को मथकर मैं अपनी एकमात्र अनुरक्ता, भक्ता और अनिन्दिताङ्गी राजपुत्री को निकाल लाऊँगा। ब्राह्मणदेव ! आप आशीर्वाद दें कि मैं अपने कार्य में सफल होऊँ।"

ब्राह्मण ने कहा—"प्रभो ! आप सत्य संकल्प हैं। सर्व समर्थ हैं आपके लिये कौन सी बात असंभव है। आपके संकल्प से ही अगणित ब्रह्माण्डों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होती है।

भगवन् ! अब देर करने का काम नहीं। परसों ही उसके विवाह का नक्षत्र है। कल तक आप न पहुँचे तो फिर संभव है राजकुमारी को आप जीवित न पावें।"

भगवान् ने कहा—"विप्रदेव ! आप चिन्ता न करें। कल प्रातः आप सूर्यदेव का अर्घ्य कुण्डिनपुर में ही चलकर देंगे।"

यह कहकर भगवान् मधुसूदन ने तुरन्त सेवक को आज्ञा दी। "अभी दारुक सारथी को बुलाओ।" सुनते ही दारुक दौड़ा दौड़ा आया और हाथ जोड़कर अभिवादन करके उसने शिष्टाचार से कहा—"प्रभो ! सेवक समुपस्थित है, इसके लिये क्या आज्ञा है ?"

भगवान् ने कहा—"देखो, दारुक ! तुम तुरन्त मेरा रथ जोत लाओ। विलम्ब करने का काम नहीं।"

सिर से प्रणाम करके दारुक ने नम्रता-पूर्वक कहा—"जैसी देव की आज्ञा। मैं अभी रथ लेकर आता हूँ।"

यह कहकर वह अति शीघ्र अश्वशाला में गया। भगवान् के शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नाम वाले चारों दिव्य घोड़ों को उसने खोला, उन्हें थपथपाया। उनके ऊपर काँठी रखी और सुवर्ण मंडित दिव्य रथ में उन्हें जोड़ दिया। रथ को शीघ्रता से स्वच्छ किया। उसके ऊपर का वस्त्र हटा दिया। विशाल गरुड़ की ध्वजा को खोलकर भली भाँति लगा दिया। इसी प्रकार रथ को जोतकर वह क्षण भर में द्वार पर रथ को ले आया और हाथ जोड़कर भगवान को सूचना दी—"प्रभो ! रथ तैयार है।"

भगवान पीताम्बर ओढ़कर अपने अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हुए रथ की प्रतीक्षा ही कर रहे थे। सूत के वचन सुनकर वे ब्राह्मण से बोले—"चलिये, महाराज ! अब देर करने का काम नहीं।" यह सुनकर ब्राह्मण ने भी पुटली और सटकी उठाई। सटकी टेकते टेकते वे रथ के समीप पहुँचे। भगवान् ने कहा—"रथ पर विराजिये।"

ब्राह्मण ने कहा—"महाराज ! पहिले आप ही विराजें।"

भगवान् बोले—"ब्रह्मन ! आप कैसी नीति विरुद्ध बातें कर रहे हैं। ब्राह्मण से पहिले मैं कैसे बैठ सकता हूँ। अब अधिक शिष्टाचार का समय नहीं। आप तुरन्त रथ पर विराज जायँ।" भगवान् की आज्ञा मान कर ब्राह्मण रथ में बैठ गये। पीछे भगवान् भी बैठे। सूत ने घोड़ों को हाँक दिया। घोड़े वायु वेग से दौड़ने लगे। रथ इतने वेग से दौड़ रहा था, कि देखने वाले संदेह में पड़ जाते थे, रथ दौड़ रहा है या अधर आकाश में उड़ रहा है। इस प्रकार शीघ्रगामी घोड़ों द्वारा भगवान् एक रात्रि में ही कुशस्थली द्वारकापुरी से आनर्त देश की राजधानी कुण्डिनपुर में पहुँच गये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब कुछ कुण्डिनपुर का भी समाचार सुन लीजिये। राजा भीष्मक नहीं चाहते थे, रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल के साथ हो। वे तो उसे भगवान् वासुदेव को ही देना चाहते थे, किन्तु जब पुत्र सोलह वर्ष का हो जाय, तो उसके साथ मित्र का सा व्यवहार करना चाहिये समर्थ श्रेष्ठ पुत्र की बिना सम्मति लिये पिता को अपने मन से कोई कार्य न करना चाहिये, जिससे गृह कलह न हो और परिवार में ही विरोध उत्पन्न न हो इसी लिये पुत्र स्नेह के वशीभूत होकर वे भी रुक्मिणीजी का शिशुपाल को ही देने के लिये सहमत हो गये। नगर में बड़ी धूमधाम से विवाहोत्सव की तैयारियाँ होने लगीं। सम्पूर्ण नगरी नव वधू की ही भाँति सजाई गई। जितने नगर के बड़े बड़े राजपथ थे, गली, कूँचे, चौराहे, सभा भवन तथा अन्यान्य सार्वजनिक स्थान थे, वे झाड़ बुहार कर सुन्दर बनाये गये। उनमें सुन्दर सुगन्धित जलों का छिड़काव कराया गया। फिर चित्र विचित्र ध्वजा, पताका, तोरण, बन्दनवार तथा रंग बिरंगी साड़ियों से सब स्थान सजाये गये। नगरी का गोपुर (प्रधान द्वार) कला पूर्ण ढँग

से उत्तम कारीगरी द्वारा सजाया गया था। सभी ने अपने अपने घरों को सजाया था। प्रतीत ऐसा होता था मानों सभी के घरों में विवाह का मंगलोत्सव है। सभी नगर के नर नारी माला, सुगन्धित चन्दन, अमूल्य हार, दिव्य आभूषणों और सुन्दर स्वच्छ बहुमूल्य वस्त्रों से सुसज्जित होकर प्रमुदित हो रहे थे बच्चे प्रसन्नता में भर कर नये नये वस्त्र पहिन कर बारात देखने की इच्छा से अत्यन्त उत्कंठा के साथ इधर उधर घूम रहे थे। नगरी के समस्त भव्य भवन धूप, अगुरु तथा अन्यान्य सुगन्धित द्रव्यों के धुएँ से सुवासित हो रहे थे। चारों ओर बाजे बज रहे थे। सुगन्धित तैलों, पुष्पों तथा अन्यान्य सुगन्ध युक्त पदार्थों से नगरी सुगन्धित हो रही थी। सजी सजाई वह राजधानी परम श्री सम्पन्न और शोभा युक्त प्रतीत होती थी।

विवाह के पूर्व जो पिता को नान्दी श्राद्ध, देव पूजन और ब्राह्मण भोजन कराना होता है, उसे महाराज भीष्मक कर चुके थे। बड़े बड़े वेदज्ञ ब्राह्मण मिलकर सस्वर वेद घोष कर रहे थे। विवाह के नियमानुसार मङ्गल पाठ कर रहे थे।

रुक्मिणीजी पर कई दिन से तैल हल्दी चढ़ाई जा रही थी। जब सेरन्ध्रियाँ उनके श्रीअंग में उबटन लगातीं हलदी मलतीं तो उन्हें ऐसा प्रतीत होता मानों कोई मेरे अंग मे विष का लेप कर रहा है। वे शिशुपाल के नाम से डर जातीं, स्मरण आते ही मूर्छित हो जातीं, उनके नेत्र रोते रोते रक्त वर्ण के हो गये थे। एकान्त में बैठकर वे निरन्तर रोती ही रहतीं। सेविकायें ससुराल की बातें कह कह कर भावी पति के सम्बन्ध की बातें बता बताकर उन्हें हँसाना चाहती थीं, किन्तु उन सबका प्रयास निष्फल हो जाता। रुक्मिणीजी कभी हँसती नहीं थीं। उनका तो हृदय जल रहा था, वे तो निरन्तर श्यामसुन्दर का ही स्मरण कर रही थीं। सेविकायें सोचतीं—"राजकुमारी अपने मां

पिता की परम दुलारी हैं। अकेली पुत्री हैं, माता पिता के वियोग को स्मरण करके ही वे दुखी रहती हैं।"

विवाह के पूर्व दिवस राजकुमारी को उबटन लगाकर विधिवत् स्नान कराया गया। उनके कर में कंकण बाँधा गया। दासियों ने अत्यन्त सुन्दर बहु मूल्य रेशमी साड़ी उन्हें पहिनाई। ऊपर से रेशमी चद्दर उढ़ाई चित्र विचित्र आभूषणों से उन्हें विभूषित किया गया। इस प्रकार उन्हें सजाकर मंडप में लाया गया। नव वधू के वेष में सजी हुई साक्षात् लक्ष्मीजी की अवतार रुक्मिणीजी की शोभा अवर्णनीय थी उनके दाडिम के दानों सदृश दाँत चन्द्रिका की भाँति प्रकाशित हो रहे थे। उनका मुख-कमल चिन्ता से म्लान हो रहा था और उस पर विशाद की रेखायें स्पष्ट झलक रही थीं। ब्राह्मणों ने राजकन्या रुक्मिणीजी को सामवेद, ऋक्वेद, और यजुर्वेद के मन्त्रों से अभिमन्त्रित किया। दिग्बन्धादि करके उनके रक्षा की मङ्गल पाठ किया। फिर अथर्व वेद के जानने वाले विद्वान ब्राह्मणों ने ग्रह शान्ति के निमित्त होम किया। पुत्री के अभ्युदय के निमित्त उदार मना महाराज भीष्मक ने ब्राह्मणों को यथेष्ट सुवर्ण, रजत, वस्त्र, गुड़मिश्रित तिलों के मोदक तथा बहुत-सी गौओं का दान दिया। सम्पूर्ण राज्य में राज पुत्री के विवाह के उपलक्ष में आनन्दोत्सव मनाया गया।

यह तो कन्या पक्ष की बात हुई। इसी प्रकार वर पक्ष में भी विवाह की धूम-धाम मची हुई थी चेदि देश के महाराज दमघोष बड़े नामी थे। इसलिये उन्होंने भी अपने पुत्र शिशुपाल के अभ्युदय के निमित्त दान, पुण्य, पूजन, हवन, स्वस्त्ययन, मङ्गलाचरण तथा अन्यान्य मङ्गल कृत्य कराये। घुड़चढ़ी हुई स्त्रियाँ वर को घोड़े पर चढ़ाकर गाजे बाजे के साथ कूप पूजने के लिए गईं। शिशुपाल ने अपनी माता का अंचल पिया और कहा—

"माँ ! मैं तुम्हारे लिए बहू लाऊँगा।" तब उसकी भाभियों ने उसके काजर लगाया आरती उतारी और कहा—"अच्छी बहू लेकर आना !" इस प्रकार नगर की परिक्रमा करके सेना के सहित शिशुपाल विवाह करने कुण्डिनपुर की ओर चल दिया। बड़े-बड़े मतवाले हाथी जिनके गंडस्थलों से मद चू रहा था, सजीव पहाड़ों की भाँति जा रहे थे। उनके बड़े-बड़े घण्टाओं की ध्वनि से दशों दिशायें गुँजती-सी प्रतीत होती थीं। घुड़ सवार घोड़ों को नचा रहे थे, विविध भाँति की कलाओं को दिखा रहे थे। रथों की धूलि से आकाश मंडल में अंधेरा छा गया था। अस्त्र शस्त्र धारी सहस्रों सैनिक पैदल चल रहे थे। पैदल सैनिकों से घिरा दूल्हा बना पालकी में बैठकर शिशुपाल आगे-आगे चल रहा था। नियत समय पर चेदि देश के महाराज की बारात कुण्डिनपुर के एक बगीचे में जाकर ठहर गई।

जब विदर्भराज महाराज भीष्मक ने बरात के आगमन का समाचार सुना, तो वे, अत्यन्त प्रसन्न हुए। पुरोहित, मंत्री और सहस्रों सैनिकों से घिर कर वे बरात की अगवानी लेने चले। वहाँ पहुँचकर उन्होंने वर का पूजन किया स्वागत किया। सबसे मिल भेंटकर बड़ी धूम-धाम से गाजे बाजे के साथ बरात को नगरी में ले आये। बरात के आगे-आगे कई लोग घोड़ों पर चढ़कर सुवर्ण की मुद्राओं की वर्षा करते चल रहे थे। निर्धन लोग उन मुद्राओं को लूट रहे थे। द्वारों पर नवीन वस्त्र पहिने बालक युवक और वृद्ध खड़े थे। भवनों की छतों पर चढ़कर स्त्रियाँ बरात की शोभा देख रही थीं। इतनी बड़ी भारी बरात को देखकर सभी को परम विस्मय हुआ। गुप्तचरों ने पहिले ही जाकर सूचना दे दी थी, कि श्रीकृष्ण का विचार रुक्मिणी का हरण करने का है। अतः शिशुपाल के पक्ष के जितने शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्त्र, विदूरथ और पौंड्रक आदि भगवद्द्वेषी राजा थे वे सबके सब सैन्य सजाकर इस

बरात में आये थे। ये सब यादवों का अभ्युदय नहीं चाहते थे, इसी लिये सेना सजाकर आये थे कि शिशुपाल के विवाह में यदि कृष्ण बलराम ने यादवों को लेकर कन्या के अपहरण का प्रयत्न किया, तो हम सब मिलकर उनसे युद्ध करेंगे उन्हें हराकर जैसे भी होगा तैसे भीष्मक की पुत्रीका विवाह शिशुपाल से करावेंगे। इसीलिये बरात में असंख्य सेना थी।

महाराज भीष्मक ने पहिले से ही जनमासे का प्रबन्ध कर रखा था। बरातके लिये जनमासा दिया गया। सेनाने सम्पूर्ण नगरको घेर लिया। महाराज की ओरसे सभीका यथेष्ट आदर सत्कार किया गया। जिसने जिस वस्तुकी इच्छा प्रकटकी उसे वही वस्तु तुरन्त दी गई।"

भगवान् रात्रि में द्वारका से चले थे। वे बलरामजी से बिना ही पूछे चल दिये थे। रथ का घड़घड़ाहट सुनकर उन्हें सन्देह हुआ कि इस समय कृष्ण कहाँ जा रहा है। वे तुरन्त भगवान् के महलों में आये। आकर उन्होंने पूछ ताछ की। विदित हुआ कि कुण्डिनपुर से एक बूढ़ा ब्राह्मण कोई गुप्त पत्र लेकर आया था, उसे पढ़ते ही उसे साथ लेकर रथ में चढ़कर भगवान् कहीं चले गये हैं।

अब बलदेवजीको समझने में देर नहीं हुई। चर्चा तो बहुत दिनसे चल ही रही थी वे समझ गये कृष्ण विवाह करने गया है, संकोच वश उसने मुझसे कहा नहीं। ऐसा न हो सब दुष्ट मिलकर उसपर प्रहार कर दें। ऐसे समय उसका एकाकी जाना उचित नहीं है। बड़े भाईका हृदय ही जो ठहरा उनसे नहीं रहा गया। वे भी प्रधान-प्रधान सेनापतियों को लेकर और अत्यन्त लड़ाकू एक सेना को लेकर उसी समय कुण्डिनपुरकी ओर चल दिये। भगवान् सूर्योदय से बहुत पहिलेही कुण्डिनपुरके एक उद्यान में पहुँच-गये थे। सूर्य उदय होते होते बलरामजी भी सेना सहित

दूरसे ही उन्हें उद्यानमें गरुड़की ध्वजा वाला रथ दिखाई दिया। तुरन्त वे उसी ओर चल दिये। भगवान्ने जब रथोंकी घड़घड़ाहट और हाथियों की चिंघाड़ सुनी तो वे उस ओर देखने लगे। दूरसे ही उन्हें तालकी ध्वजाका बलदेवजीका रथ दिखाई दिया वे समझ गये बलभैया आ गये। बलरामजी के रथको देखकर भगवान् कुछ सिटपिटा गये। वे ज्यों ही उठकर आगे चले त्यों ही उन्हें सामने से हँसते हुए आते बलदेवजी दिखाई दिये। भगवान्नेज्यों ही झुककर उनके चरण छूए त्योंही बलदेवजीने उन्हें प्रेमसे हृदयसे लगा लिया और हँसते हुए बोले—"—अरे, भैया! तुझे विवाह ही करना था, तो हमसे कह देता हम मना थोड़े ही करते। विवाहकी चार कचौड़ी हमें भी मिल जातीं। यों अकेले ही अकेले चोरोंकी भाँति चुपके २ विवाहके लिये भाग आना क्या तुम्हारे लिये उचित है।"

बनावटी गम्भीरता प्रकट करते हुए भगवान्ने कहा—"दादा! किसका विवाह कैसा विवाह। मैं तो वैसे ही तमासा खेल देखने चला आया था।"

हँसते हुए बलदेवजीने कहा—"रहने भी दो। क्यों बहुत बात बनाता है। दाईके सामने पेट छिपाने से काम थोड़े ही चलेगा। अच्छी बात है, आज इन सब दुष्टों को इनकी दुष्टताका फल चखावेंगे और भीष्मककी कन्याको बलपूर्वक हम हरकर ले चलेंगे। जो हमारे इस काम में विघ्न करेगा उसे यमपुर पठावेंगे।"

यह सुनकर भगवान् को मन ही मन बड़ी प्रसन्नता हुई। सेनाका पड़ाव डाल दिया। तब उन वृद्ध ब्राह्मणने कहा—"महाराज! राजकुमारी रुक्मिणी बड़ी छट पटा रही होगी, आज्ञा हो तो मैं उसे इस शुभ सम्वाद को सुना आऊँ।"

भगवानने कहा—"हाँ, आप जायँ राजकुमारी से कह दें वह किसी प्रकारकी चिन्ता न करे। आज जब वह देवी पूजन को जायगी, तब मैं उसका अवश्य ही अपहरण करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह सुकनर ब्राह्मण कुण्डिनपुर-के अन्तःपुरकी ओर चल दिया। इधर अभी तक भगवान्के आगमनका कुछ भी समाचार न सुनकर जिस प्रकार भगवती रुक्मिणीजी बिलबिला रही थीं, तड़प रही थीं, क्षण क्षण प्रतीक्षा कर रही थीं उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

हरि कुंडिनपुर पहुँचि रहे पुरकी अमराई।
इत अति विशद बरात चेदि राजाकी आई॥
जनमासो नृप दयो बराती अति हरषाये।
उत बल सुनि हरि गमन सैन सजि तिन ढिंग आये॥
सकुचाये हरि बलहँसे, कछु मीठी चुटकी लई।
कहन वृत्त निज विप्रकूँ, हरि चुपके आयसु दई॥

रुक्मिणीजीकी निराशामें आशा

(१०६०)

अथ कृष्ण विनिर्दिष्टः स एव द्विजसत्तमः ।
अन्तःपुरचरीं देवीं राजपुत्रीं ददर्शह ॥❀

(श्री भा० १० स्क ५३ अ० २८ श्लो०

छप्पय

हरि आयसु सिर धारि गये द्विज अन्तःपुर महँ।
द्विज मुख विकसित निरखि भयो सुख कन्या उर महँ ॥
कह्यो सकल सम्वाद कुमारी सुनि हरषाई।
द्विजकी रिनिया बनी अश्रु माला पहिनाई ॥
सुन्यो आगमन कृष्ण बल, को नृप सुनि विस्मित भये।
अतिथि समुझि भीष्मक नृपति, सादर निज गृह लै गये ॥

हम कोई शुभ सम्वाद सुननेको समुत्सुक बैठे हों। क्षण क्षण पल पल उसके लिये गिन रहे हों, और उसी समय आकर कोई हमें जैसा हम चाहते हों वैसा ही आकर समाचार सुना दें तो चित्त चाहता है, इसे अपना सर्वस्व दे डालें उस समय जो

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! श्रीरुक्मिणीजी भगवान् के न पधारने पर अत्यन्त ही निराश हो रही थीं, कि इतने में ही भगवान् के भेजे हुए वे ही वृद्ध ब्राह्मण अन्तःपुर निवासिनी राजकुमारी रुक्मिणीजी के समीप आये। उन्होंने चिन्तित राजकुमारी को देखा।"

प्रसन्नता होती है, वह वर्णनातीत है उसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता। वह तो अनुभवकी वस्तु है। प्यारेके मिलनके सम्वाद से बढ़ कर संसार में दूसरा कोई सुखद सम्वाद है ही नहीं। जिन आँखों ने प्यारे के दर्शन कर लिये वे आँखें धन्य हैं, जिस क्षण में प्यारे के शुभागमनका शुभसम्वाद सुनाई पड़े वह क्षण धन्य है। जिन कानों ने प्रियतमके पधारने का वृत्तान्त सुना वे ही कर्ण वास्तव में कर्ण हैं जिस व्यक्ति ने प्रिय आगमन की शुभ शूचना दी है, वही हमारा प्रिय है, हितैषी है शुभचिन्तक और आत्मीय है। ऐसे पुरुष का जीवन भर प्रत्युपकार हो ही नहीं सकता। उसके सम्मुख तो सदा आँखें झुकी ही रहती हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! रुक्मिणी देवी ब्राह्मण को द्वारका भेजकर उसी दिन से उसके आने की प्रतीक्षा करने लगीं। यद्यपि वे जानती थीं कुण्डिनपुरसे द्वारकापुरी दूर है। ब्राह्मण वृद्ध है, पैदल ही गया है जाने आने में विलम्ब लगेगा किन्तु प्रेम इन बातोंका विचार नहीं करता। आशा संभव असंभव का विचार नहीं करती। अर्थी दोपकी ओर ध्यान नहीं देता। रुक्मिणीजीके लिये पल पल भारी हो रहा था। जब शिशुपालकी बरात आ गई और विवाहके पूर्वके समस्त मङ्गल कृत्य हो चुके, तब तो उसे अत्यन्त निराशा हुई। विवाहमें अब एक ही दिन तो शेष है, कल ही तो लग्न है. श्यामसुन्दर को आज आ जाना चाहिये था। आज ही तो मैं देवी पूजन के निमित्त जाऊँगी वे वृद्ध ब्राह्मण भी लौट कर नहीं आये। वे कहीं मार्गमें ही रह गये क्या, या वृद्धावस्थाके कारण अभी द्वारका पहुँच न सके होंगे यदि श्यामसुन्दर मेरी विपत्ति की बात सुन लेते, तो अवश्य ही आ जाते। हाय! अब मैं कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, किसी से अपनी विपत्ति की बात कहूँ। मैं बड़ी अभागिनी हूँ, पूर्व जन्म में मैंने किसी दो प्रेमियों के मिलने में अवश्य ही बाधा

डाली होगी, इसीलिये मैं अपने प्राणधन प्रियतम से नहीं मिल रही हूँ। नहीं तो ब्राह्मण न भी पहुँचता तो वे सर्वज्ञ मेरी विपत्ति को जान कर स्वतः ही आ जाते। वे कमल नयन भगवान् वासुदेव अभी तक आये नहीं। इस कारण मुझे भाँति भाँतिके सन्देह हो रहे हैं। सम्भव है उन्होंने मुझे निर्लज्जा समझ लिया हो, या मुझमें और कोई दोष समझ कर वे न आये हों। उन्होंने मुझे अपनानेके सर्वथा अयोग्य समझा हो। तभी तो वे मेरा पाणिग्रहण करने यहाँ नहीं आ रहे हैं। हाय! मैंने श्याम सुन्दरकी प्राप्तिके निमित्त शिवजीकी कितनी आराधना की। भगवती पार्वतीजीका कितने प्रेमसे प्रति दिन पूजन किया, किन्तु मुझे मेरे प्रियतमकी प्राप्ति नहीं हुई। गिरिराज कुमारी सती गौरी माता मुझ पर प्रसन्न न हुई। प्रतीत होता है, विधाता मेरे वाम हैं, पूर्व जन्मों के पाप प्रभु प्राप्तिमें मेरे लिये अन्तराय हो रहे हैं। हाय! क्या मुझे शिशुपालके हाथमें हाथ देना होगा? क्या सिंहके भागको सियार हर ले जायगा? क्या यज्ञीय हविषको गर्दभ खा जायगा? क्या मेरी आशाओं पर पानी फिर जायगा? क्या भगवान् का शरणागतवत्सल नाम व्यर्थ हो जायगा? क्या जगदुद्धारक श्यामसुन्दर मेरा उद्धार न करेंगे? क्या भवभयहारी भगवान मेरे भयको न हरेंगे? क्या पतित पावन प्रभु मुझ पतिताकी विनती पर ध्यान न देंगे? क्या भक्त वांछा कल्पतरु कृष्ण मेरी इच्छाको पूर्ण न करेंगे? क्या प्रपन्न-पारिजात परमेश्वर मुझ शरणमें आई प्रपन्ना पर प्रसन्न न होंगे?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उन विश्ववन्दिता अनिन्दिता राजकुमारीके चित्तको श्यामसुन्दर श्रीहरि ने हर लिया था। वे श्यामसुन्दरके अतिरिक्त अन्य किसी वरको वरण करना नहीं चाहती थीं। इसीलिये भगवान् वासुदेवको समय पर पधा-

रते न देखकर उनका हृदय भर आया। चिन्ता करते करते उनके नयन अश्रुपूर्ण हो गये। वे अंचल से मुख को ढककर फूट फूट कर रोने लगीं। उनके सम्पूर्ण शरीर से पसीना निकल रहा था और वे कीच में पड़ी सूर्य की किरणों से संतप्त मछली की भांति तड़प रही थीं। वे बार बार द्वार की ओर देख रहीं थीं। घर के पेड़ों पर बैठे कौआओं को उड़ा रही थीं। शोक से संतप्त होकर बार बार उठतीं और फिर मूर्छित होकर गिर पड़तीं। इस प्रकार वे अर्धमूर्छितावस्था में श्यामसुन्दर के आगमन के समाचार की प्रतीक्षा में व्याकुल हो रही थीं, उसी समय उन्हें सामने से वही ब्राह्मण दिखाई दिया।

ब्राह्मण को देखकर वे चौंक पड़ीं। दूर से ही उन्होंने ब्राह्मण का मुख देखा। वह शारदीय कमल के सदृश प्रफुल्लित था। उनके मुख मंडल से प्रसन्नता प्रकट हो रही थी उनकी चाल में उत्सुकता थी। नयनों में सरसता था और थी अङ्ग अङ्ग में अनुपम स्फूर्ति। उसी समय राजकुमारी ने अपने अङ्गों में भी शुभ शकुन देखे। उनकी बायीं जंघा, बायीं भुजा और बायीं आँख फड़क रही थी। इन सब शुभ सूचक शकुनों को देखकर लक्षणों को जानने वाली राजकुमारी रुक्मिणी समझ गई कि कार्य सफल हो गया। यदि ब्राह्मण को अपने कार्य में सफलता प्राप्त न होती तो इनका मुख इतना प्रसन्न कभी न होता न उस पर मनोहर मंद मंद मुसकान् ही छिटकती हुई दिखाई देती। इतनी निर्भीकता और स्वच्छन्द गति से तो यही सिद्ध होता है कि भगवान् ने मेरी प्रार्थना सुन ली। फिर भी वे ब्राह्मण के मुख से सुनना चाहती थीं इसीलिये शीघ्रता के साथ बोलीं—"क्या श्यामसुन्दर आ गये?"

ब्राह्मण ने एक साँस में ही कह दिया—"हाँ आ गये।"

अहा! उस सुखद समाचार को सुनकर सुकुमारी राजकुमारी को कितनी प्रसन्नता हुई होगी, यह स्वसंवेद्य विषय है उन्होंने

परम उत्सुकता के साथ पूछा—"कहाँ ?"

ब्राह्मण ने कहा—"नगर के निकट के आम्र के उद्यान में ठहरे हुए हैं।"

रुक्मिणीजी ने पूछा—"आपको पिताजी ! कष्ट तो बहुत हुआ होगा ? कब आप पहुँचे ? श्यामसुन्दर मेरी पाती को पढ़कर अप्रसन्न तो नहीं हुए ?"

ब्राह्मण ने कहा—"पुत्री ! भगवान की जितनी भी प्रशंसा की जाय, उतनी ही थोड़ी है। मुझे मार्ग में कोई भी श्रम नहीं हुआ। मैं कुण्डिनपुर के उद्यान में सोया था और द्वारका में यदुनाथ के उद्यान में जगा था। ब्रह्मण्यदेव भगवान ने मेरा बड़ा भारी स्वागत सत्कार किया। पत्र को मुझसे ही पढ़वाया। पत्र सुनते सुनते वे रो रहे थे। सब कुछ सुनकर वे मुझसे बोले—"मैं उन शिशुपाल आदि खलों को जीतकर अवश्य ही बल पूर्वक राजकुमारी को ले आऊँगा। आप मेरी बात का विश्वास करें।" मुझे भी राजकुमारी की बहुत याद आती है, रात्रि में नींद भी नहीं आती।" यह कह कर वे रथ मे चढ़कर तुरन्त चल दिये और अरुणोदय से पूर्व ही कुण्डिनपुर में आ गये। पीछे से सूर्योदय होते होते उनके भाई भी सेना सहित आकर उनसे मिल गये। अब राम श्याम सेना सहित नगर के बाहर उद्यान में ठहरे हैं। वे आज तुम्हारा अवश्य ही उद्धार करेंगे।"

इस शुभ समाचार को सुन कर भगवती रुक्मिणी देवी का कण्ठ रुद्ध हो गया। वे ब्राह्मण की कृतज्ञता के भार से अत्यन्त ही नमित हो गईं। उनकी इच्छा हुई, कि इस शुभ समाचार सुनाने के उपलक्ष में विप्र देव को कोई उपहार दूँ, किन्तु बहुत सोचने पर भी इसके अनुरूप कोई उपहार दृष्टि गोचर न हुआ। विवश होकर राजकुमारी ने ब्राह्मण के चरणों मे अपना मस्तक टेक दिया। अर्थात् लक्ष्मीजी की अवतार रुक्मिणीजी ने कहा—"मैं

अपनी समस्त विभूति तुम्हें अर्पण करती हूँ।" पीछे से ब्राह्मण की पूजा की। उन्हें धन वस्त्रादि देकर विदा किया। अब राजकुमारी की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं था। वे सबसे हँसकर बातें करने लगीं उनके मुख कमल से प्रसन्नता की किरणें फूट फूट कर निकल रहीं थीं। राजपुत्री के ऐसे परिवर्तन को देखकर सभी को आन्तरिक प्रसन्नता हुई।

इधर जब विदर्भाधिप महाराज भीष्मक ने यह समाचार सुना कि यदुवंश विभूषण श्रीराम कृष्ण मेरी कन्या के विवाह को देखने पधारे हैं, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। विवाह आदि मङ्गलोत्सव के समय ऐसे योग्य अतिथि स्वतः ही बिना निमंत्रण के ही आ जायँ तो इससे बढ़कर सौभाग्य की बात क्या होगी ?" यही सब सोच कर वे स्वयं ही मन्त्री पुरोहित और गाजे बाजे के साथ उस उद्यान में गये जहाँ राम श्याम दोनों भाई ठहरे थे। राम श्याम ने भी वृद्ध विदर्भाधिप को आते देख उनका उठ कर आदर सत्कार किया। दोनों ओर से कुशल प्रश्न होने के अनन्तर महाराज भीष्मक ने कहा—"वासुदेव ! आपने इस दास पर बड़ी कृपा की जो ऐसे मंगल के समय हमें दर्शन दिये। अब मेरे नगर में पधार कर मेरे गृह को अपनी चरणरज से पावन बनावें।"

राजा के आग्रह से दोनों भाई सेना सहित कुण्डिनपुर नरेश के सहित नगर की ओर चले। आगे आगे भेरी बजती जाती थी। नगर के लोग राम कृष्ण की जय जयकार कर रहे थे। महल के समीप पहुँच कर राजा ने समस्त पूजा की सामग्रियों से दोनों भाइयों की पूजा की मधुपर्क, निर्मल वस्त्र तथा पूजा के अन्य उत्तम उपहार अर्पित करके उनका यथा योग्य सत्कार किया। सेना सहित सभी को ठहरने के लिये उत्तम स्थान दिये। और भी जो नृपति गण आये थे, उन सबका यथोचित स्वागत किया। कन्या-

के विवाह में निमंत्रित होकर जितने भूपति कुण्डिनपुर पधारे थे, उनका वाय, वल, अवस्था, प्रभाव, सम्पत्ति और मान्यता के अनुरूप यथा योग्य वस्तुएँ अर्पित कीं, किसी के स्वागत सत्कार में किसी प्रकार का कोर कसर नहीं रखी।

जितने भी देश देशान्तरों के राजा तथा राजकुमार विवाह में आये थे, उन सब में श्याम सुन्दर ही सबसे अधिक रूपवान् थे। उनके सौन्दर्य की प्रशंसा प्रथम ही सर्वत्र फैल गई। जहाँ नर-नारियों ने सुना कि श्यामसुन्दर भगवान् वासुदेव भी कुण्डिनपुर आये हैं। तो इस समाचार को सुनते ही, आबाल वृद्ध नर नारी उनके दर्शनों के निमित्त आने लगे। उनके निवास स्थान के सम्मुख दर्शनार्थियों की निरन्तर भीड़ ही लगी रहती थी। जो भी उनके दर्शन करता वही अपने को कृतकृत्य समझता। जो भी उनके अनवद्य सौन्दर्य को निहारता वही निहाल हो जाता। सभी नर नारी अत्यन्त उत्सुकता और उत्कंठा के साथ भगवान् वासुदेव के मुखारविन्द मकरन्द का अपनी नयनाञ्जलि से यथेष्ठ पान करने लगे। जो भी भगवान् के दर्शन करते वे ही कहते—"राजकुमारी रुक्मिणी के योग्य वर तो ये ही हैं। अहा! ये कितने सुन्दर हैं, कितने मनोज्ञ हैं, कितने नयनाभिराम। ये शोभा के धाम हैं, इन्हें चाहें जब तक देखते रहें चित्त भरता ही नहीं। नयन अतृप्त ही बने रहते हैं। जैसी हमारी राजकुमारी परम रूपवती है, वैसे ही सुन्दरता के सागर ये हैं। यदि इनके साथ कुमारी का विवाह होता, तो हमें नेत्रों का आहार मिल जाता। ये जब जब विदा कराने आते, तब तब हम इन्हें देखकर अपने नयनों को धन्य बनाते।" इस प्रकार विदर्भ नगर के निवासी नर नारी अञ्जलि बाँध कर सच्चे हृदय से विधाता से विनती करने लगे और कहने लगे—"हमने पूर्व जन्मों में जो भी कुछ दान इत्यादि सुकृत कर्म किये हों, उनका फल हमें यही मिले कि

यदुनन्दन भगवान् वासुदेव विदर्भ राजकुमारी सुकुमारी रुक्मिणी का पाणि ग्रहण करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार सभी के ऊपर भगवान् के सौंदर्य का मोहिनी मंत्र फिर गया। राजपथों में गली कूँचों में हाट बाट तथा घरों में सर्वत्र श्यामसुन्दर के अनुपम रूप के ही गीत गाये जाने लगे। देवी पूजन का दिन आज ही था अब जिस प्रकार रुक्मिणीजी गौरी पूजन को जायँगी और वहाँ श्यामसुन्दर उनका अपहरण करेंगे यह कथा आगे वर्णन की जायगी।"

छप्पय

करि हरि बल आतिथ्य सकल सैनिक ठहराये।
आये पुर यदुचन्द्र सुनत नारी नर धाये॥
हरि को अनुपम रूप लखें पुनि पुनि न अघावें।
कन्या के बर योग्य श्याम कूँ सबहिं बतावें॥
मची धूम हरि रूप की, हाट बाट कूचे गली।
तबहिं रुक्मिनी सखिनि सँग, गौरी पूजन हित चली॥

श्रीरुक्मिणीजी द्वारा गौरीपूजन

(१०६१)

नमस्ये त्वाम्बिकेऽभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां शिवाम् ।
भूयात्पतिर्मे भगवान् कृष्णस्तदनुमोदताम् ॥❀
(श्री भा० १० स्क० ५३ अ० ४६ श्लो०)

छप्पय

पैदल मुनि व्रत धारि चलति शंकित सकुचावति।
नूपुर कङ्कण कडे छडे चूरी झनकावति॥
घर तैं मन्दिर तलक बाड़ सम सैनिक लागे।
शूरवीर लै शस्त्र चलें कछु पीछे आगे॥
गौरी मन्दिर पहुँचिकैं, प्रेम सहित पूजन करयो।
धूप दीप उपहार सब, देवी के सम्मुख धरयो॥

अनन्य उपासना का अर्थ यह नहीं है, कि किसी अन्य देवी देवता को माने ही नहीं। मानना सभी को चाहिए। पूजा सभी की करनी चाहिए, किन्तु उनसे वर यही माँगे कि हमारा इष्ट में अनुराग हो। जैसे पतिव्रता का इष्ट तो पति ही है, किन्तु वह

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! गौरीजी का पूजन करके रुक्मिणीजी ने उनसे प्रार्थना की—"हे अम्बिके! मैं आप कल्याणकारिणी देवी को आपकी सन्तान गणेशजी और कार्तिकेय सहित पुनः पुनः प्रणाम करती हूँ। श्रीकृष्ण भगवान् ही मेरे पति हों आप इस बात का अनुमोदन करें।"

सास, ससुर, देवर, जेठ तथा अन्यान्य घर के सभी लोगों की सेवा करती है, उनके प्रति आदरभाव प्रदर्शित करती है, किन्तु यह सब करती है पति के ही लिये "ये सब मेरे पति के सगे सम्बन्धी हैं, इनकी सेवा करना मेरा धर्म है। जब मेरे पति ही इनकी सेवा करते हैं, तो मुझे भी करनी चाहिए। इसमें मेरे पति परमेश्वर प्रसन्न होंगे।' इसी प्रकार समस्त देवी देवताओं की पूजा करना मानों इष्ट की पूजा है, सब अनुकूल होंगे तो हमारे इष्ट भी प्रसन्न हो जायँगे। जो इष्ट की तो प्रेम से पूजा करते हैं, अन्यों की द्वेषवश उपेक्षा करते हैं, वे उत्तम भक्त न कहकर "प्राकृत भक्त" कहलाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान के शुभागमन का शुभ समाचार सुनकर सुकुमारी राजकुमारी विदर्भनन्दिनी फूली नहीं समाती थीं। उन्हें क्षण क्षण भारी हो रहा था। उस समय महारानी ने कहा—"बेटी! देखो, गौरीपूजन का समय हो गया। मङ्गलस्नान कर ले और शीघ्र ही इन वृद्धाओं के साथ देवी पूजन के लिये जा।"

यह सुनकर सेविकाओं ने शीघ्रता के साथ कुमारी को स्नान कराया, उन्हें दिव्य वस्त्राभूषणों से विभूषित किया और फिर पूजा का समस्त सम्भार जुटाया। पूजन में जिन जिन सामग्रियों की आवश्यकता थी, वे सब बूढ़ी बूढ़ी ब्राह्मणियों से पूछ पूछकर एकत्रित कीं। जब सब सामान जुट गया तब सखियों से घिरी हुई राजकुमारी अन्तःपुर से पूजन के लिये निकलीं। आगे आगे वृद्धा मातायें मङ्गलगीत गाती हुई चल रही थीं। कुमारी को चारों ओर से उनकी अवस्था की सखियाँ घेरे हुए थीं। जैसे ताराओं से घिरी रोहिणी जा रही हो, उसी प्रकार राजकुमारी की शोभा थी। महाराज विदर्भ ने कन्या की रक्षा का विशेष प्रबन्ध किया। अन्तःपुर से गौरी के मन्दिर तक पैदल सैनिकों की एक

लगा दी थी। पैदल सैनिकों के पीछे अश्वारोहियों की बाड़ थी। उनके पीछे रथों की और सबसे पीछे हाथियों पर चढ़े सैनिक खड़े थे। परस्पर में सटे हुए काले काले हाथी ऐसे लगते थे मानों पहाड़ों की लम्बी श्रेणियाँ खड़ी हों और उनके बीच में सड़क जा रही हो। जरासन्ध शिशुपाल आदि सबको शङ्का थी कि चोर जार शिखामणि कृष्ण आया है। यह किसी उत्तम अभिप्राय से सेना सजाकर नहीं आया है। यदि इन यादवों ने तनिक भी छेड़ छाड़ की तो अब के सब मिलकर इन्हें हम इनकी अविनय का फल चखावेंगे। इसलिये सभी सेना को सजाये सचेष्ट थे।

राजकुमारी ज्यों ही स्त्रियों के साथ बाहर निकलीं त्यों ही अस्त्र शस्त्र लिये महाराज भीष्मक के सैनिकों ने उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किये। बहुत से सैनिक अस्त्र शस्त्रों को खोले हुए पंक्तिबद्ध आगे आगे चलने लगे, बहुत से पीछे पीछे चलने लगे। इस प्रकार चारों ओर से सैनिकों से घिरी राजकुमारी गौरीजी के मन्दिर की ओर पैदल ही जा रही थीं। इतनी भीड़ भाड़ थी, किन्तु उनका ध्यान किसी की ओर भी नहीं जाता था। मन से श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् के चरणारविन्दों का ध्यान करती जा रहीं थीं। उनके चरण इतने कोमल थे, कि पैदल चलने के कारण लज्जित होकर अवनि भी पिघल जाती और अपनी स्वाभाविक कठोरता का परित्याग कर देती। जब तक देवीजी का पूजन सम्पन्न न हो जाय, तब तक वे मुख से एक शब्द भी नहीं बोल सकती थीं उन्हें पूजन पर्यन्त मौन व्रत का पालन करना था। उनके आगे-आगे मृदङ्ग, पणव, शङ्ख, तूर्य, और भेरी आदि मंगल वाद्य मधुर मधुर ध्वनि करते हुए बजते जाते थे। आगे आगे वस्त्राभूषणों से अलंकृत वृद्ध ब्राह्मणी स्त्रियाँ थीं, उनके पीछे उनके कुल की बड़ी बूढ़ी मातायें थीं तदनन्तर हाथों में माला, पुष्प तथा वस्त्र अलंकारादि विविधि भाँति की उपहार की

वस्तुओं को लिए हुए सेविकायें चल रही थीं। नाचने और गाने वाली सहस्त्रों स्त्रियाँ आगे-आगे नाचती गाती हुई चल रही थीं। नट, नर्तक, गायक, सूत, मागध तथा वन्दीजन खेल दिखाते स्तुति करते कन्या के साथ साथ चल रहे थे। इस प्रकार अत्यन्त ही धूम धाम से राजकुमारी की पूजनयात्रा हुई। वह सकुशल गौरीजी के मन्दिर में पहुँच गयी। पहुँचते ही सेविकाओं ने उनके चरणों को धोया। हाथ पैर धोकर आचमन करके उन्होंने मन्दिर के भीतर प्रवेश किया। अत्यन्त शिष्टाचार के साथ भगवती पार्वतीजी के प्रति श्रद्धाभाव प्रदर्शित करते हुए वे उनके समीप बैठ गयीं। बूढ़ी-बूढ़ी विप्रपत्नियों ने जिस प्रकार पूजन करने को कहा, उस प्रकार उन्होंने पूजन किया आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय जल, देकर स्नानादि कराये फिर वस्त्र, हार, आभूषण, चन्दन, धूप, दीप, नैवेद्य, फल तथा नाना भाँति के उपहार मालपूआ, मोदक और अन्य पकवान आगे रखे। सहस्त्रों दीपक देवीजी के मन्दिर में जलाये गये। देवीजी का पूजन करके सौभाग्यवती विप्रपत्नियों की विधिविधान से पूजा की उनके सामने मीठे नमकीन विविध भाँति के पदार्थ परोसे उन्हें मालायें पहिनाईं, पान, कंठ में कण्ठसूत्र पहिनाये और हमारा दम्पत्यजीवन मधुर हो, इस भाव से ऊख के गन्ने भी दिये। पूजनोपरान्त उन्होंने हाथ जोड़कर मन ही मन भगवती अम्बिका देवी से प्रार्थना की—"हे देवि! हे अम्बिके! आप घट घट की बातें जानती हो, आप मेरी मनोकामना को पूर्ण करें। भगवान् मदनमोहन ही मेरे पति हों, ऐसा आशीर्वाद आप मुझे दें। मैं आपके परम पुनीत पादपद्मों में प्रेमपूर्वक पुनः पुनः प्रणाम करती हूँ। इस प्रकार विनती करके उन्होंने भगवती की प्रदक्षिणा की। ब्राह्मणपत्नियों की चरण वन्दना की। उन विप्रपत्नियों ने प्रसाद से उनकी गोदी को भर दिया। प्रसाद को मस्तक पर चढ़ाकर साथ की सहेली को

अपने रत्नमुद्रिका से शोभित परम सुकुमार सुकोमल कर कमल को उमक कंध पर रखकर कटि के भार से नमित हुई सुकुमारी उत्सुकता पूर्वक मन्दिर से बाहर हुईं। उस समय सर्वत्र बाजे बज रहे थ, माङ्गलिक नृत्य गीतों से दशों दिशायें मुखरित—सी हो रही थीं। कन्या के पूजन का समाचार सुनकर उत्सुकता पूर्वक समस्त आगत राजकुमार सज धजकर उनके सौंदय को देखने सेना के आगे खड़े हो गये थे।

अब रुक्मिणीजी ने मौन व्रत को त्याग दिया था। मुख के अंचल को भी ऊपर कर लिया था। वे अपनी सहेलियों से हँस हँसकर कुछ बातें भी करती जाती थीं, किन्तु उनकी दृष्टि में चञ्चलता थी, वे उस बड़ी भारी भीड़ में किसी को खोज रही थीं। वे अपने भावों को छिपा रही थीं। इस प्रकार वे देखतीं कि कोई उनके मनोगत भावों को समझ न ले। और की तो बात ही क्या उनकी सखियाँ भी न समझ सकीं। कोई कोई कह देती—"राजकुमारी! जिन्हें तुम खोज रही हो, वे तो जनमासे में बैठे होंगे, ये तो अन्य राजकुमार हैं।" इस पर वे झूठा रोष दिखाती हुई अपनी अप्रसन्नता प्रकट करतीं और फिर स्वयं ही हँस भी जातीं।

उनका सौन्दर्य अनवद्य था, वह बड़े बड़े धीर वीरों के मन को भी देवमाया के सदृश विमोहित करने वाला था। उनका कटि प्रदेश अत्यंत सुन्दर स्थूल और क्षीण रेशमी वस्त्रों से ढका हुआ था। मनोहर मुखमंडल कमनीय कनक कुण्डलों की कांति से देदीप्यमान था। उन्होंने पन्द्रह वर्ष को पार करके सोलहवें वर्ष में पदार्पण किया था। अंग अंग से यौवनावस्था की प्रभा फूट फूटकर निकल रही थी। रत्नजटित मेखला से उनका कटिप्रदेश आबद्ध था। रेशमी कंचुकी से आवृत उन्नत वक्षःस्थल पर हार और कण्ठमालायें परस्पर में चलते समय प्रेमकलह कर रही थीं।

मनोहर मुख पर काली काली अलकावली वायुमें बिथुरकर ऐसी प्रतीत होती थीं मानों डरकर चन्द्र को ग्रसने राहुकी कुछ किरणें आती हों और वे पुनः भाग जाती हों। उनकी दृष्टि में उत्सुकता, चञ्चलता, व्यग्रता, अधीरता और आशा निराशाके भाव क्षण क्षण में व्यक्त हो रहे थे। बिम्बाफल के सदृश उनके अरुण अधरोंकी कलित कान्तिसे कुन्दकलीके सदृश उनकी द्युतमती दन्तावली, दाणिमके दानोंके सदृश, शुभ्रता और अरुणताकी सङ्गमस्थली बनी हुई थी। वे जब जब अपने कमलके सदृश अरुणवर्णके कोमल चरणोंको उठातीं, तब तब नूपुरोंकी सुमधुर झनकार हो उठती, जो दर्शकोंके कर्णकुहरोंमें संजीवनीका काम करती, उसे सुनते ही सभी-चौंककर कुमारीकी ही ओर निहारने लगते। वे राजहंसिनीके समान कल कल शब्द करती हुई मन्द मन्द गतिसे जा रही थीं। राजपथके उभय पार्श्वमें अस्त्र शस्त्रोंसे सुसज्जित जितने सैनिक खड़े हुए थे, वे सबके सब चित्र लिखे सैनिकोंके समान प्रतीत होते थे, उनके न पलक गिरते थे न अंग प्रत्यंङ्ग कोई चेष्टा ही करते थे मानों किसीने मोहिनी मंत्र पढ़कर उन सबको स्तब्ध कर दिया हो। राजकुमारोंकी बुरी दशा थी, वे वाहनोंपर बैठे थे। राजकुमारीको देखते देखते उन्हें झपकियाँ-सी आने लगीं और वे धड़ाम धड़ाम करके अपने वाहनोंसे नीचे गिरने लगे।

विदर्भनन्दिनी भगवती रुक्मिणीजी बार बार अपने वाम कर कमलकी कोमल उँगलियोंसे मुखमण्डल पर बिथुरी हुई अलकावलीको हटातीं और उत्सुकताभरी दृष्टिसे राजाओंकी ओर देखतीं। वे मूर्ख समझते थे कुमारी अनुरागभरी दृष्टिसे हमारी ओर निहार रही है। उन अज्ञोंको पता नहीं था यह महामाया हमें अपनी मनमोहिनी मायासे मोहित करती हुई अपने ... खोज रही है। वे उनकी दृष्टिरूपी बाणसे बिध जाते और भू...

होकर गिर जाते। इस प्रकार अपनी मनोहर मुसकान और लजीली चितवन से राजकुमारों को मोहित और प्रियतम का अन्वेषण इन दोनों कार्यों को करती हुई आगे बढ़ ही रही थीं, कि उन्हें गरुड़ध्वज वाले रथमें बैठे पीताम्बर ओढ़े श्यामसुन्दर दूरसे दिखायी दिये। उन्हें देखते ही उनके शरीरमें विद्युत-सी फैल गयी। उनके रोम रोम खिल उठे प्रसन्नताके कारण मुख-मंडल चमकने लगा। अब वे राजपथकी ओर न जाकर उस विशाल गरुड़ध्वज वाले रथको ही लक्ष्य बनाकर बढ़ने लगीं, उनकी सखी सहेलियाँ चकित हुईं। सैनिकों और बाजेवालोंको भी विस्मय हुआ, किन्तु राजकुमारी बढ़ती ही गईं बढ़ती ही गईं। इधरसे कुमारी शनैः शनैः बढ़ रही थी उधरसे रथ वेगसे उनकी ही ओर आ रहा था। रथको समीप देखकर राजकुमारी ने पीछे आनेवाली अपनी सहेलियोंसे कहा—"बहिनाओ! राम राम! मुझसे भूल चूकमें जो कुछ अपराध बना हो उसे क्षमा करना। लो मैं तो चली।" सखियाँ कुछ समझ न सकीं। कोई भी कुछ न समझ सका। दो ने ही समझा था तो कारे कृष्णने या गोरी रुक्मिणीजी ने।

छप्पय

करि पूजा परसाद धारि सिर विनती कीन्हीं।
होवें पति मम कृष्ण, सुआशिष देवी दीन्हीं॥
गौरी गृहतें निकसि निहारें हरिकूँ इत उत।
शोभा बरनि न जाय मनहुँ सुन्दरता विहरत॥
रूप, शील, वय विनय लखि, सचर अचर सब भये।
कामी नृप वाहन चढ़े, सुन्दरता लखि गिरि गये॥

श्रीरुक्मिणीजीका हरि द्वारा हरण

(१०६२)

तां राजकन्यां रथमारुरुक्षतीम्,
जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम् ।
रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणम् ।
राजन्यचक्रं परिभूय माधव ॥❀
(श्रीभा० १० स्क० ५३ अ० ५५ श्लो०

छप्पय

गरुणध्वज रथ निरखि बढ़ी उतही कूँ बाला ।
आवत देखी कुँवरि हाँकि रथ लाये लाला ।
कीयो ऊँचो हाथ पकरि कें रथ बैठाई ।
पायो पतिको परस फुरहुरी अँग अँग आई ॥
आवे निर्भय भाग लै, सिंह सृगालनि मध्य ज्यों ।
देखत देखत नृपनिके, भगे भाग लै श्याम त्यों ॥

ब्राह्म, आर्ष, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच आदि विवाहों के आठ भेद माने गये हैं। इनमें एक से एक अधम माना गया है ब्राह्मसे आर्ष अधम है, उससे गान्धर्व और उससे भी राक्षस

❀श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् भगवान् ने देखा विदर्भ नन्दिनी रुक्मिणीजी मेरे रथपर चढ़ना चाहती हैं, तो उन्होंने उनको समस्त शत्रुओंके सम्मुख हाथ पकड़कर उठा लिया और अपने गरुड़ध्वज रथपर समस्त क्षत्रियों का तिरस्कार करके चढ़ा लिया।"

विधिसे किया हुआ विवाह। ब्रह्म विवाह में तो कन्याका पिता वर को बुलाकर कन्याको अलंकृत करके विधि विधान पूर्वक उसे कन्याको समर्पित करता है। आर्ष विवाह में वर स्वयं कन्याकी याचना करने जाता है और दो वृषभ मंगल रूपमें कन्याके पिता को देकर उसकी कन्या को ग्रहण करता है। ये दोनों धर्म विवाह हैं। गान्धर्व विवाह यद्यपि क्षत्रियों में श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु वास्तव में वह कामविवाह है। वर वधू दोनों का मन मिलने पर माता पिताके बिना पूछे ही यह विवाह हो जाता है इसमें वेद मन्त्र न भी पढ़े जायँ, तो भी विशेष आपत्ति नहीं होती राक्षस विवाह में कन्याके माता, पिता तथा कुटुम्बियोंको जीतकर उन्हें मारकर या बाँधकर बलपूर्वक कन्या का हरण किया जाता है। इसमें कन्याकी इच्छा हो या न हो यह वीर्यशुल्क विवाह है। एक धन देकर भी विवाह किया जाता है। यह अत्यन्त निकृष्ट है। यदि राक्षस विवाह में कन्याकी अनुमति हो तब वह गान्धर्व और राक्षस दोनोंका संमिश्रण एक अन्य ही प्रकारका विवाह हो जाता है। भगवान् ने श्रीरुक्मिणीजीके साथ विवाह राक्षस विधिसे किया, किन्तु इसमें कन्याकी भी पूर्ण अनुमति थी, इसलिये इसे गान्धर्व भी कह सकते हैं। पिता की अनुमति थी और उन्होंने मन से भगवान् को बुलाया था वर भाँति उनका पूजन भी किया था, इसलिये ब्राह्म विवाहका उसमें अंश था। इस विवाह में भगवान्ने कन्या के किसी परिवार वालेपर प्रहार नहीं किया पक्ष के किसी भी बन्धु बान्धव को बिना मारे वे कन्याको ले गये थे। अतः उन्होंने इस अनुपम विवाह में सभी विवाहों की छटा दिखा दी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जिस प्रकार भाग्यशाली के यहाँ छप्पड़ फाड़कर लक्ष्मी आ जाती है, उसी प्रकार देवीजी के मन्दिर पार्श्व में खड़े हुए भगवान् वासुदेव के पास स्वयं ही भगव

रुक्मिणीजी चली गईं। जाते ही उन्होंने सुवर्ण मुद्रिका से विभूषित, कमलकी पंखुड़ियों के सदृश कोमल उंगलियों वाले अपने अरुण वरणके पाणिको ऊपर उठाया। अर्थात् भगवानसे कहा—"आप इन सब राजाओंके देखते हुए मेरा पाणिग्रहण करें आप मेरा पाणिग्रहण कर लेंगे, तो फिर मुझे आपसे कोई भी पृथक् नहीं कर सकता।" भगवान् तो पाणिग्रहण करनेको समुत्सुक ही थे उन्होंने
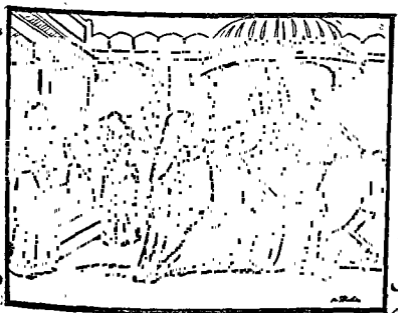
भी अपने कोमल करको आगे बढ़ाया। रुक्मिणीजी राजाकी पुत्री थीं, रथपर चढ़ना उसे चलाना सभी जानती थीं। अतः भगवान् के कर कमल का सहारा पाकर वे रथपर चढ़ गईं। भगवान् ने उन्हें वामाङ्ग में बिठा लिया मानों देवीजी को साक्षी करके विवाहके सभी संस्कार सम्पन्न हो गये। अब वहाँ अधिक ठहरना भगवान्ने उचित नहीं

सिंह जैसे सभी वनचरोंके सम्मुख अपना भाग लेकर चला जाता है, उसी प्रकार वे राजकुमारीको लेकर बलरामादि यादवों के साथ वहाँसे चल दिये।

राजाओं में हल्ला मच गया। लोग चिल्लाने लगे—क्या हुआ, क्या हुआ ? कौन कुमारीको ले गया ? किसने ऐसी अविनय की, किसने सर्पोंके सिरों पर पैर रखकर उन्हें क्रुद्ध बना दिया ?" इस पर एक भगवद्भक्त राजा थे वे हँसते हुए बोले—"हुआ क्या, जो होना था, सो हुआ। जिसकी वस्तु थी, वह उसे लेकर चम्पत हुआ अब तुम लोग सिरको पत्थर पर पटको या काला मुख करके अपने अपने घरका मार्ग पकड़ो। पक्षी फुर्र से उड़ गया, खेल समाप्त हुआ।"

यह सुनकर जरासन्ध के वंशवर्ती भगवद्द्वेषी राजा क्रोध में भरकर मूछोंको मरोड़कर ओठोंको काटकर कहने लगे—"अरे, यह तो हम लोगों का बड़ा अपमान हुआ। हमारी इतने दिनकी बढ़ी हुई कीर्ति धूलि में मिल गई हाय हमारे देखते देखते ये अहीर ग्वाले एक राजाकी लड़की को बलपूर्वक हर ले जायँ और हम टुम्म टुम्म देखतेके देखते ही रह जायँ हमारे बल वीर्यको धिक्कार है। हमारे ये धनुष बाण केवल देखने की ही वस्तु रह गये। हाय! हम अस्त्र शस्त्रोंको धारण किये इतने राजा खड़े थे और एक क्षत्रियों से बहिष्कृत भगोड़े गोप हमारे बीच में से राजपुत्री को इसी प्रकार ले गये जैसे सहस्रों सिंहोके बीचसे उनके भागको दो हरिण उठा ले जायँ।"

उस पर दूसरे नृपति गण बोले—"अरे भाई, ऐसे पश्चाताप करने ने से ही क्या होगा कुछ पुरुषार्थ करो। वे कहीं दूर तो निकल नहीं गये हैं, कृष्ण के रथकी ध्वजा वह सामने दिखायी दे रही है। सब मिलकर उसे घेर लो और उसे पराजित करके उससे कन्याको छीन लो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इतना कहते ही क्रोध में भरकर समस्त राजागण कवच पहिनकर अस्त्र शस्त्रों को धारण करके तथा अपने अपने वाहनों पर चढ़ चढ़कर चतुरङ्गिनी सेना के सहित श्रीकृष्ण का पीछा करने लगे; युद्ध के लिये आते हुए वीरों को देखकर यदुवंशियों की सेना के वीर भय से भागे नहीं। वे लौटकर खड़े हो गये और घोड़ों को नचाते हुए धनुषों की टंकार करने लगे। शत्रुओं की सेना ने शीघ्रता के साथ आकर यादवों की सेना को घेर लिया जैसे कुत्ते हाथी को घेर लेते हैं। उन राजाओं ने आते ही कुछ भी पूँछ ताँछ नहीं की चारों ओर से यादवी सेना पर बाणों की वर्षा करने लगे। जैसे पर्वत पर मूसलाधार पानी बरसता है, उसी प्रकार यादवों की सेना पर सब नृपति एकत्रित होकर बाणों की वर्षा कर रहे थे। उनमें से बहुत से घोड़ों पर चढ़े हुए थे। बहुत से हाथियों पर और बहुत से रथों में बैठे हुए थे।

रुक्मिणीजी ने जब देखा कि ये सब राजा तो एक साथ मिलकर हमारी सेना पर बाण वर्षा कर रहे हैं और हमारा रथ तथा समस्त सेना के सेनापति बाणों से ढँक गये हैं, तब तो वे बड़ी भयभीत हुई। कातर दृष्टि से लजाती हुई वे बार बार वनमाली की ओर निहारने लगीं। भगवान् वासुदेव उनके मनोगत भावों को समझकर हँसते हुए कहने लगे—"अरे, राजकुमारी ! तुम इतने से ही डर गई क्या ? तुम घबराओ मत देखती जाओ तुम्हारी सेना वाले संख्या में भले ही न्यून हों, किन्तु अभी क्षण भर में ही इस समस्त रिपु सेना का संहार कर देंगे। तुम रथ में बैठी बैठी खेल देखती जाओ। भयभीत होने की कोई बात नहीं।"

यह सुनकर रुक्मिणीजी का भय कुछ दूर हुआ। अपने प्राणनाथ के पास बैठी बैठी युद्ध को देखने लगीं। २ भी

गद आदि महारथी यादवों के साथ शत्रुओं की सेना पर टूट पड़े। वे अपने शत्रुओं के पराक्रम का तिरस्कार करके उन पर बाणों की वर्षा करने लगे। जिसमें सैनिक, हाथी, घोड़े तथा रथ कट कटकर रणाङ्गण में गिरने लगे। वे बड़ी सावधानी से शत्रुओं के बाणों को बचाते हुए उन पर प्रहार कर रहे थे। इसलिये उनके बाण तो व्यर्थ बन जाते और इनके बाण शत्रुओं की सेना को काट काट कर गिराने लगे। सैनिकों के मुकुट और कुण्डलों से युक्त सिर कट कट कर गिरने लगे। किसी के बाजूबंद और कंकणों से युक्त हाथ ही कटकर गिर रहे थे। किसी के चरण, ऊरु, धड़ और अन्यान्य अंग छिन्न भिन्न हो रहे थे। सैनिकों के समान ही हाथी, घोड़ा, ऊँट, खच्चर तथा गधे भी कट रहे थे। वे पीड़ा से चिंघाड़ते हुए भागते और दूर मरकर गिर पड़ते। यादवों की ऐसी वीरता देखकर, सभी नृपतिगण चकरा गये। उनमें बहुत से तटस्थ थे। वे सोचने लगे—"अरे हम तो बरात में आये थे हमारे लिये तो राजकुमारी का विवाह शिशुपाल से हो या श्रीकृष्ण से हम क्यों व्यर्थ में अपने प्राण दें।" यह विचार कर वे लौट गये। जरासंधादि राजाओं ने भी जब देखा, इन यादवों को जीतना सामान्य काम नहीं है। हम लोगों की तैयारियाँ भी उतनी नहीं हैं। यहाँ इनसे लड़ने का अर्थ है अपनी शक्ति का अपव्यय करना।" यही सब सोच समझ कर वे युद्ध से पराङ्मुख हो गये। यादव अपनी विजय का डंका बजाकर आगे निकल गये। ये लोग लौटकर जनवास में आ गये।

जनवासे में आकर राजाओं ने देखा, शिशुपाल की बुरी दशा है। जैसे किसी भूखे के सामने से परसी हुई थाली उठाली जाय, उस समय उसे जैसी निराशा होती है, वैसी निराशा उसे हो रही थी। दुलहिन के छिन जाने से उसका मुख सूख गया था, सम्पूर्ण नष्ट हो गया था और वह तकिया में मुख छिपाये हुए रो रहा

था। उसे इस प्रकार अधीर हुआ देखकर जरासन्ध आदि उसके हितैषी राजा उससे कहने लगे—"हे पुरुष सिंह! यह क्या? तुम स्त्रियों की भाँति रो क्यों रहे हो? अरे यह तो संसार चक्र है। जैसे रथ का पहिया कभी ऊपर आता है कभी नीचे चला जाता है, इसी प्रकार जय पराजय तो क्षत्रियों को लगी ही रहती है। यह भाग्य का खेल है। प्रारब्ध के सम्मुख पुरुषार्थ काम नहीं देता। फिर भी मनुष्य को साहस न खोना चाहिये और न निराश ही होना चाहिये। द्वन्द्वों का ही नाम तो जीवन है। सुख के साथ दुःख जीवन के साथ मरण और जय के साथ पराजय लगी ही रहती है। हम सब को काल रूप भगवान उसी प्रकार नचा रहे हैं जैसे कठपुतलियों को नचाने वाला काठ की कठपुतलियों को नचाता है। आपको इस प्रकार निराश न होना चाहिये। एक बहू न मिली न सही तुम्हारे नख नख के विवाह हो जायँगे।"

शिशुपाल ने रोते रोते कहा—"मुझे बहू के जाने का इतना शोक नहीं है। मैं तो सोचता हूँ अब क्या मुँह लेकर मैं घर जाऊँगा। कैसे अपने सगे सम्बन्धियों को मुख दिखाऊँगा।"

जरासन्ध ने अपनेपन के भाव से कहा—"अरे भाई! इसमें मुख न दिखाने की कौन सी बात है। युद्ध में दो ही बातें तो होती हैं जय या पराजय। आज हम जिससे हार गये हैं, समय आने पर हम भी उसे हरा सकते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मैं स्वयं ही तुम्हारे सम्मुख समुपस्थित हूँ। देखो मैंने सत्रह बार बड़ी बड़ी सेनाओं को लेकर मथुरा पर चढ़ाई की और कृष्ण ने मुझे परास्त किया। फिर भी मैंने साहस नहीं छोड़ा उद्योग करता ही रहा। अठारहवीं बार मेरा भी दाव लग गया। मैंने भी यादवों को हरा दिया। मेरे ही भय से तो ये सब अपनी पैतृक भूमि को छोड़ कर समुद्र के बीच में आकर छिपे हैं। सत्रह बार

जब मैं हारा था तब मुझे न कुछ शोक ही हुआ और न अठारहवीं बार जय होने पर हर्ष ही। क्योंकि मैं सब जानता हूँ, जय पराजय यह सब दैवाधीन है। यह सम्पूर्ण जगत् देव प्रेरित काल के कारण ही, सुखी दुखी उन्नत अवनत आदि अवस्थाओं में पड़ा करता है।

बलाबल करने वाला तो काल ही है। न कोई बली है न कोई निर्बल जब जैसा समय होता है तब मनुष्य तैसा ही बन जाता है। इस समय काल यादवों के अनुकूल है, उनकी विजय हो गयी। थोड़े होने पर भी वे हमारे देखते देखते कन्या को हर ले गये। जब काल हमारे अनुकूल होगा, तो हम भी विजयी होंगे, इन भगोड़ों को परास्त करेंगे।"

यह सुनकर शिशुपाल क्या करता। उसने कहा—"अच्छी बात है, इस समय मेरा चित्त अच्छा नहीं है, आप लोग विश्राम करें मैं एकान्त में थोड़ी देर रहना चाहता हूँ।" यह सुनकर अन्य सब राजा लोग इधर उधर हो गये। तब शिशुपाल ने चुपके से पालकी मँगाई। उसमें पर्दा पड़ा हुआ था। उसमें बैठकर वह भाग गया। पीछे से उसकी सेना भी चल दी जब दूल्हा ही खेत छोड़कर भाग गया, तो बराती रह कर क्या करते और उन्हें वहाँ पूछता ही कौन अपना-सा मुँह लेकर वे सब के सब चल दिये।

शिशुपाल रात में अपने घर पहुँचा। उसकी माता बहिन और भाभियों ने समझा बहू आई है इस लिये वे सब आरती सजाकर पालकी के पास गईं। शिशुपाल एक तो वैसे ही का[illegible] फिर रोने से उसकी आँखों का काजल बहने से मुँह और[illegible]

अधिक काला हो गया था। परदा उठाकर ज्यों ही स्त्रियों ने देखा तो वे डर गईं और बोलीं—"इसमें बहू नहीं है कोई भूत बैठा है।" चारों ओर हाहाकार मच गया। लोग भी आ गये सबने देखा उसमें न भूत है न बहू। काला मुस्टन्ड शिशुपाल है। शिशुपाल बिना बोले ही लज्जा के कारण भीतर घुस गया। तब उसको भाभियों ने पूछा—"लल्लू! बहू नहीं लाये क्या ?"

उसने क्रोध में भरकर कहा—"चलो हटो! तुम्हें बहू की ही पड़ी है। हम जीवित लौट आये यही क्या कम है। वहाँ बड़ी गड़बड़ी हुई। बहू किसी काम की नहीं थी। वह तो किसी के साथ भाग गयी।"

इस पर एक चपल सी स्त्री ने कहा—"लालाजी अंगूर खट्टे हैं।"

यह सुनकर शिशुपाल और भी अधिक लज्जित हुआ। वह भीतर चला गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार शिशुपाल तो निराश होकर लौट आया। श्रीकृष्ण रुक्मिणीजी को लेकर चल दिये, किन्तु इस बात से उसके बड़े भाई रुक्मी को बड़ा दुःख हुआ। वह चाहता था चाहे मेरी बहिन का विवाह किसी भी राजा से हो जाय, किन्तु कृष्ण से न हो।" जो वह नहीं चाहता था वही हुआ इससे उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहा। राजा जब अपने अपने नगरों को जाने लगे तब उसने अपनी सेना को सजाया और सबको सुनाकर कहने लगा—"राजाओं! मैं आप लोगों के सम्मुख हाथ में शस्त्र ग्रहण करके सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, कि जब तक कृष्ण को हरा कर अपनी बहिन रुक्मिणी को लौटाकर न लाऊँगा तब तक मैं कुण्डिनपुर में प्रवेश न करूँगा।" ऐसी प्रतिज्ञा करके वह श्रीकृष्ण भगवान् से युद्ध करने के लिये चल दिया।

छप्पय

तब अति हल्ला मच्यो नृपति सब लड़िवे आये।
यादव बीरनि सबहिँ भूप खल मारि भगाये॥
जनमासे महँ आइ सबनि शिशुपाल मनायो।
करि कारो मुख भागि रैँनि महँ निज घर आयो॥
इत रुक्मी है क्रुद्ध अति, करी प्रतिज्ञा हौं लरूँ।
हरि बध करि बिनु बहिन लै, नगरी महँ नहिँ पग धरूँ॥

भगवान्‌के साथ रुक्मीका युद्ध

(१०६३)

क्व यासि स्वसारं मे मुषित्वा ध्वाङ्क्षवद्धविः ।
हरिष्येऽद्य मदं मन्द मायिनः कूटयोधिनः ॥*
(श्री भा० १० स्क० ५४ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

व्यर्थ प्रतिज्ञा करी चल्यो सेना सजि मानी ।
ललकारे घनश्याम वीरता बड़ी बखानी ॥
भये खड़े भगवान् बान तकि तकि कें मारे ।
कुन्डिनपुर के बीर भगे बोले हम हारे ॥
रुक्मी है कें बिरथ लै, कर करवाल चल्यो लड़न ।
तबही रथ तें उतरि हरि, लगे खड्ग तें बध करन ॥

अपराजित अच्युत से जो युद्ध करते हैं, वे भी बड़े भाग्य शाली हैं। भगवान की प्राप्ति तो सम्बन्ध से होती है, उनसे त्र, मित्र, सखा, बन्धु, पिता, पति तथा अन्य कोई भी सम्बन्ध

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान् का पीछा करते हुए क्मी उनसे कहने लगा—"अरे हो मन्दमति कृष्ण ! तू मेरी बहिन । जिस प्रकार कौआ हविको चुरा कर भागता है उसी प्रकार लेकर कहाँ ागा जा रहा है । आज मैं तेरे समस्त अभिमान को चूर्ण कर दूँगा । बड़ा ही मायावी और कपट युद्ध में कुशल है ।"

मान लो। उन्हें चाहे शत्रु भाव से भजो या मित्र भाव से कल्याण तो होता ही है। जो साक्षात् भगवानसे अस्त्र शस्त्र लेकर लड़नेका उद्यत हो जाते हैं जो उन्हें निर्भय होकर गाली देते हैं, उनका इतना बड़ा साहस भी तो भगवान् ही देते हैं, नहीं तो साधारण मनुष्यका इतना साहस कहाँ कि वह सर्वेश्वर के सम्मुख ऐसी धृष्टता कर सके।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब रुक्मीने यह प्रतिज्ञा की कि बिना रुक्मिणी को छुड़ाये और बिना कृष्ण को मारे मैं अपने नगर कुण्डिनपुर में पैर न रखूँगा, तब तो योद्धाओं का उत्साह चढ़ा। वीर मानी रुक्मी अपने रथ पर चढ़ा और अत्यन्त ही अभिमान के साथ बोला—"सारथिन्! देखो, तुम मेरे रथ को अविलम्ब उसी ओर ले चलो, जिधर मेरी बहिनको लेकर कृष्ण गया है। आज मेरे और उसके दो दो हाथ होंगे। उस अनार्य गोपालका साहस तो देखो, इतने राजाओंके बीचसे राजकुमारीको हर ले गया है। आज मैं उस गौ चराने वाले मन्दमति गोपालके मदको मर्दन कर दूँगा। उस उन्मत्तके समस्त अविनयका अंत कर दूँगा। तुम अति शीघ्र रथको चला कर उसे पकड़ लो। वह अधिक दूर न जाने पावे।"

सारथीने हाथ जोड़कर कहा—"जैसी देव की आज्ञा। मैं अभी श्रीकृष्णके रथके समीप आपके रथ को पहुँचाता हूँ।" यह कह कर उसने घोड़ों में चाबुक मारा। घोड़े वायुसे बातें करने लगे। कुछ ही क्षणों में वह मन्दमति माधवके रथके समीप पहुँच गया। उसे अपने बलका अत्यधिक अभिमान था, अतः उसने पीछे आने वाले सैनिकों को भी रोक दिया और वह ईश्वरकी महिमाको न जानने वाला मंदमति एकाकी ही भगवानसे लड़ने पहुँच गया। भगवान् के समीप पहुँचते ही वह चिल्लाने लगा—"अरे भगोड़े! खड़ा रह खड़ा रह। मेरी बहिनको लिये

चोर की भाँति कहाँ भागा जा रहा ?"

भगवान् ने कहा—"तेरी आँखें फूट गई हैं क्या ? चोर की भाँति कहाँ जा रहे हैं। हम तो तुम सब की आँखों में धूलि झोंक कर अपने पुरुषार्थ से अपने भाग को लिये जा रहे हैं। तुझमें साहस हो तो छुड़ा ले।"

इतना सुनते ही रुक्मी क्रोध में भर गया। उसने बिना कुछ विचार किये ही भगवान् को लक्ष्य करके तीन बाण छोड़े और गरजकर बोला—"अरे यदुकुल कलंक! तू खड़ा होकर मेरे प्रहारों को सह तो सही। तैंने कहीं वीरता भी दिखाई है ? भगोड़ा कहीं का। तैंने तो जीवन भर चोरी जारी ही की है। जैसे कौआ यज्ञ मंडप में रखी हवि को चुपके से चुराकर चंपत हो जाता है, वैसे ही तू मेरी बहिन को चुराकर भागा है। तुझमें बल वीर्य तो नहीं। केवल छल कपट करना ही तू जानता है। कालयवन को तैंने छलकर मरवा दिया। अपने मामा को कपट से मार दिया। आज मैं तेरे सब कपट को कपूर की भाँति उड़ा दूँगा। आज तेरा सब मायावीपना भुला दूँगा, तेरे समस्त गर्व को खर्व कर दूँगा। जब तक मैं अपने तीखे तीखे बाणों से बेधकर तुझे यमपुर न पठा दूँगा, तब तक मैं रण छोड़कर जाऊँगा नहीं। अब तेरी मृत्यु निकट ही आ गई। यदि तुझे अपने प्राण प्यारे हैं, तो इसी समय मेरी बहन को छोड़ दे और भाग जा। मैं वीर हूँ भागते हुओं पर और हाहा खाते हुओं पर अस्त्र शस्त्र नहीं छोड़ता।"

भगवान् ने कहा—"सालेजी! बहुत बढ़ बढ़ कर बातें न बनाओ। कुमरजी! अपना पुरुषार्थ दिखाओ। बक बक करना कायर का काम नहीं। जो बड़बड़ाते हैं, वे पुरुषार्थ नहीं दिखाते। जो बहुत गर्जते तर्जते हैं, वे कोरे ही होते हैं। तुममें कुछ बल है पुरुषार्थ है तो कुछ करके दिखाओ। अच्छा, तो लो सम्हलो। मैं बाण छोड़ता हूँ।"

यह कहकर श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् ने आठ बाण एक सा[illegible] छोड़े। उन आठ बाणों में से चार बाणों ने ता जाकर रुक्मी के चारों घोड़ों को मार दिया। दो से सारथी का और दो से उसके रथ की ध्वजा काट दी। अन्य छै बाणों से [illegible] उसके शरीर को वेध दिया।

सारथी और घोड़ों के मरने पर तु[illegible] रथ लिया और आगे दौड़ा और पाँच [illegible] प्रहार किया। भगवान् ने पुनः उसका धनुष रथ काट दिया घोड़े सारथी आदि को मार दिया फिर उसने नया रथ लिया। फिर भी भगवान ने ऐसा किया। तदनंतर धनुष छोड़कर उसने अन्य अस्त्रों से युद्ध करना आरम्भ किया। क्रमशः उसने परिघ पट्टिश, शूल, भुसुन्डी, ढाल, तलवार, तोमर तथा अन्यान्य बहुत से अस्त्र शस्त्र उठाय, किन्तु उसने जो जो उठाये उन सबको श्यामसुन्दर ने काट दिया। रथ को भी छिन्न भिन्न कर दिया। जब उसने देखा मेरे सब अस्त्र शस्त्र विफल बन गये, तब तो उसे अत्यंत क्रोध आया वह ढाल तलवार लेकर रथ से उसी प्रकार कूद पड़ा जैसे मृग सिंह को मारने को कूदा हो अथवा पतंग अग्नि को बुझाने कूदा हो।

भगवान् ने देखा यह तो पूरी शक्ति लगाकर मुझे मारने आ रहा है, तब आपने कई तीखे तीखे बाण छोड़कर उसकी ढाल तथा तलवार को तिल तिल सदृश काटकर गिरा दिया। जब वह शस्त्र हीन हो गया, तो आप तुरन्त रथ पर से उतर पड़े। जैसे सिंह झपटकर मृग को पकड़ लेता है वैसे ही भगवान् ने उसके बड़े बड़े सिर के बालों को पकड़ लिया और एक तीक्ष्ण तलवार निकालकर उसके सिर को काटने को उद्यत हुए।

अब तक तो रथ में बैठी रुक्मिणीजी शंकित चित्त से रुक्मी और भगवान् के युद्ध को देखती रहीं, किन्तु जब उन्होंने देखा

भगवान् इसके वध पर ही उतारू हैं, तो उन पर अब रथ में बैठा नहीं रहा गया। वे तुरन्त रथसे कूद पड़ीं और अपने प्राणनाथके पैरोंमें पड़कर भयसे काँपती हुई अत्यंत दीन वाणीसे गिड़गिड़ाती हुई कहने लगीं—"हे अप्रमेयात्मन्! हे योगेश्वर! हे जगत्पते। हे देवोंके भी देव। हे परम कल्याणस्वरूप आप ऐसा मत करो। इसका वध करना आपको उचित नहीं।"

भगवान्ने कहा—"प्रिय! तुम मेरे कार्यमें हस्तक्षेप मत करो। यह आततायी है। यह वधके योग्य है। इसने मेरा बड़ा अपमान किया है।"

रुक्मिणीजी ने दीनताके साथ कहा—"प्रभो! आप इसके दोषोंकी ओर न देखें। मुझ अबलाकी ओर निहारें। मैं दीन होकर आपके चरणोंमें पड़ी हूँ, आर्त होकर विनती कर रही हूँ। यह मेरा भाई है। इस नातेसे ही आप इसे छोड़ दें। इसके मारनेसे मुझे कष्ट होगा। आपके शरणागतों को कष्ट हो यह उचित नहीं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भाईके वधकी आशंकासे भगवती रुक्मिणीजी का शरीर थर थर काँप रहा था। शोकके कारण उनका मुखकमल मुरझा गया था। भयके कारण उनका कंठ गद्‌गद् हो गया था। केश अस्तव्यस्त हो गये थे, सिरका वस्त्र खिसक गया था, अत्यन्त आतुरताके कारण सुवर्ण और मोतियोंकी मनोहर मालायें कंठसे गिर गई थीं। दीनबन्धु श्याम सुन्दरको उनकी ऐसी दयनीय दशा पर दया आ गई। अपनी प्रियाको चरणों पर पड़कर प्रार्थना करते देखकर उनका हृदय द्रवित हो गया। वे बोले—"प्रिये। जब तुम नहीं चाहती कि इसका वध हो, तो कौन इसका वध कर सकता है, किन्तु इसने आवश्यकतासे अधिक अशिष्टताकी है, अतः इसे दण्ड देना तो आवश्यक ही है।"

कातर वाणी में रुक्मिणीजी ने कहा—"प्राणनाथ ! प्राण दण्ड को छोड़कर आप और जो उचित समझें इन्हें दण्ड दें। आप इन्हें मार देंगे, तो संसारमें मेरा बड़ा अपयश हो जायगा।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, तुम रथ पर बैठो मैं इसे मारूँगा नहीं, तनिक इसका क्षौर कर्म तो कर दूँ, दाढ़ी मूछों को तो मूड़ दूँ।"

भगवानकी आज्ञासे रुक्मिणीजी रथ पर जा बैठीं। अब भगवानने अपने दुपट्टेसे उसे कसकर रथमें बाँध दिया। और एक तीक्ष्ण खड्ग लेकर उसके सिरके दाढ़ी मूँछके बाल कहीं कहींसे मूड़ दिये। एकतो विधिवत छुरेसे क्षौरकर्म किया जाता है। दूसरे खड्गसे। कहीं बाल हैं, कहीं कट गये, कहींसे रक्त निकल रहा है। इस प्रकार उसे कुरूप करके रथके पीछे बाँध दिया।

इतने में ही शत्रु सेनाका सब ओरसे संहार करते हुए शूराग्रगण्य संकर्षण वहाँ आ पहुँचे। वहाँ उन्होंने जो रुक्मी की ऐसी दुर्दशा देखी तो उन्हें बड़ी हँसी आई। उन्होंने देखा घूँघट में से रुक्मिणी देवी देख रही है, उनकी दृष्टि अत्यन्त कातर हो रही है और नयनोंसे निरन्तर नीर बह रहा है। यह देखकर बलरामजी को बड़ी दया आई और वे तुरन्त रुक्मीके समीप गये। जाते ही उन्होंने रुक्मीके बन्धनोंको खोल दिया। उन्होंने देखा रुक्मीका सिर लज्जाके कारण ऊपर नहीं उठता था, वह अर्धमृतकावस्था में पड़ा पड़ा दीर्घश्वास ले रहा था। रुक्मीको बन्धनसे मुक्त करके बड़े होनेके नाते श्रीकृष्णको डाँटते हुए बलरामजी बोले—"कृष्ण ! भैया ! हम तुम्हारी इस बातसे बहुत अप्रसन्न हैं, यह तुमने बहुत बुरा काम किया।"

लजाते हुए भगवानने कहा—"दादा ! तुमने सुना नहीं इस नीचने मुझे कितनी बुरी बुरी गालियाँ दी थीं। मैं तो इसका वध करने वाला था, किन्तु संकोचवश नहीं किया।"

डाँटकर बलदेवजी बोले—"और वध तू क्या करता भैया! अपने सगे सम्बन्धियों की दाढ़ी मूँछें मूँड़ लेना, उन्हें कुरूप कर देना यह तो वध से भी बुरी बात है। क्रोध में आकर गाली गलौज तो हो ही जाती है। फिर साले के मुख की गालियाँ तो मीठी होती हैं। तू इतना बड़ा हो गया पर तेरा लड़कपन अभी तक नहीं गया। अरे, भाई! साले को लोग कितना प्यार करते हैं, उसका कितना सत्कार करते हैं सो आदर सत्कार तो कूआभाड़ में गया, उलटे तुमने उसे कुरूप बना दिया। यह बड़ी बुरी बात है। यह तुमने बड़ा भारी लड़कपन किया। इससे हमारी बड़ी निन्दा होगी।"

बलदेवजी श्रीकृष्ण को इस प्रकार डाँट रहे हैं, मेरे भाई का पक्ष ले रहे हैं, यह सोचकर रुक्मिणीजी को बहुत ही आन्तरिक प्रसन्नता हुई। वे समझ गईं ये मेरे जेठजी हैं। अतः उन्होंने आँचल को और खिसका लिया और आँसुओं को पोंछकर घूँघट में से दो उँगलियों के सहारे एक आँख से देखने लगीं। बलदेवजी उनकी सुखाकृति को देखकर समझ गये, इन्हें बड़ा भारी दुःख हुआ है और मेरे व्यवहार से इन्हें सान्त्वना मिली है। तो वे रुक्मिणीजी को ही सम्बोधन करके बोले—"बहू! तुम दुखी मत होना। न यही बात मन में सोचना कि इन यादवों ने हमारे बड़े भाई का अपमान किया है। राजपुत्रि! तुम तो स्वयं ही बुद्धिमती हो। संसार में न कोई किसी का मान कर सकता है न अपमान, यह सब काल करा लेता है। जिस समय जैसा काल होता है, वैसी ही बुद्धि बन जाती है। बल अबल सब काल के ही अधीन है। दूसरा दुख सुख देने वाला नहीं। अपने ही पूर्वजन्मकृत कर्म प्रारब्ध बनकर सुख दुःख देते रहते हैं। कृष्ण ने जो कुछ किया यह अनुचित ही किया। फिर भी यही मानना चाहिए। रुक्मी के भाग्य में ऐसा ही होना लिखा होगा।"

भगवान् बोले—"दादा! तुम मुझे तो दोष दे रहे हो। इस-

रुक्मी की ओर तो देखते नहीं, इसने प्रथम आकर मुझ पर प्रहार किया। फिर मैं क्षत्रिय होकर प्रहार करने वाले पर प्रहार क्यों न करता ! यह तो आततायी है, वध के योग्य था।"

बलदेवजी ने अपनी बात पर बल देकर कहा तुम फिर वही लड़कपन की बातें करते हो—"अरे भाई अपने सगे सम्बन्धी ने कोई वध के योग्य बुरा काम कर भी डाला हो. उससे अनुचित व्यवहार हो भी गया हो तो भी उसे मारना न चाहिए। कुछ डाँट डपटकर छोड़ देना चाहिये। देखो, पापी तो अपने पाप से मरा हुआ है ही फिर मृतक को क्या मारना। पिसे हुए को क्या पीसना ?"

रुक्मिणीजी अपनी भाई की दुर्दशा देखकर रो रही थीं। इसलिये उन्हें भी बलदेवजी बीच बीच में समझाते जाते थे। वे रुक्मिणीजी से बोले—"राजकुमारी ! तुम इतनी अधीर मत होओ। क्या बतावें ब्रह्माजी ने क्षत्रिय का ऐसा कठोर धर्म ही बना दिया है। रण में शस्त्र लेकर अपना सगा भाई भी आता है, तो उसे मारना पड़ता है। पिता हो, पितामह हो, मातुल हो, चाचा हो, कोई भी सगा सम्बन्धी क्यों न हो यदि वह क्षत्रिय को युद्ध के लिये अस्त्र शस्त्र लेकर ललकारता है, तब तो उसकी ललकार स्वीकृत करनी ही पड़ती है। उसे विवश होकर दण्ड देना पड़ता है। इसीलिये क्षात्र धर्म को क्रूर, कठोर और घोर बताया है।"

इस पर भगवान् ने कहा—"दादा ! अब तुम चाहे जो कह लो। तुम्हारे सामने कोई ऐसे बढ़ बढ़कर डींग मारता, तो क्या तुम उसे छोड़ देते ? आप ऐसा तिरस्कार चुपचाप सह लेते।"

बलदेवजी ने कहा—"यदि हम न सह सकते तो हम भी मूर्ख कहाते। तुम सोचो, आदमी दूसरों को तिरस्कार क्यों करता है ! अभिमान के वशीभूत होकर। अब सोचो अभिमान क्यों होता ? अभिमान होता है ऐश्वर्य के कारण, कला कौशल के कारण।

मेरा इतना भारी राज्य है, मैं इतने बड़े प्रदेश का अधीश्वर हूँ, इतनी पृथ्वी मेरे अधीन है। मेरे पास इतना विपुल धन है, मेरे यहाँ बड़ी रूपवती सुकुमारी कुलवती स्त्रियाँ हैं, मेरा सर्वत्र इतना मान सम्मान है। मैं ऐसा तेजस्वी और प्रभावशाली हूँ। इसी प्रकार के और भी ऐसे ही अनेक कारणों से प्राणी अपने बन्धु-बान्धवों और सगे सम्बन्धियों का तिरस्कार कर दिया करता है। किन्तु इसे ऐसा करना शोभा नहीं देता।"

इतना कहकर बलदेवजी फिर रुक्मिणीजी को समझाने लगे—"देख ! बेटी ! अब जो हुआ सो हुआ। वास्तव में तेरा शोक करना झूठा मोह ही है। तेरा भाई समस्त प्राणियों से द्रोह करने वाला है। उसे जो दैव ने दण्ड दिला दिया इसमें कुछ विधि का ही विधान है। इसे जो तू अमङ्गलमय मान रही है, यह तेरा भाई के प्रति पक्षपात मात्र ही है। अच्छा तू सोच अपमान किसका हुआ ? आत्मा तो मान अपमान से परे ही है। रहा शरीर। सो शरीर तो अनित्य, क्षणभंगुर तथा नाशवान है ही। इसका मान अपमान क्या होना। हाँ जो अज्ञानी इस देह को ही आत्मा मानकर बर्ताव करते हैं, उन्हें ही मोहवश दुःख शोक होता है। यह भगवान की अघटन घटना पटीयसी माया का ही प्रभाव है!

तू कहे कि शरीर के अपमान से उस शरीर में रहने वाली आत्मा का भी अपमान हुआ, सो बात नहीं। आत्मा कोई दस-बीस या लाख करोड़ थोड़े ही हैं। एक ही आत्मा समस्त देह-धारियों में व्याप्त है। जैसे सहस्र घड़ों में जल रखा हो तो सभी घड़ों में सूर्य चन्द्र का प्रतिबिम्ब दिखाई देगा। वास्तव में सूर्य चन्द्र तो एक ही एक हैं। जल मलिन होगा तो सूर्य चन्द्र भी मलिन दिखाई देंगे, किन्तु सूर्य चन्द्र में मल नहीं है। इसी प्रकार आत्मा भी शुद्ध तथा निर्मल है। अज्ञानी लोग ही उस एक मात्र विशुद्ध आत्मा को अनेक मानते हैं।

आत्मा अपने आप ही अपने को देखता है। अपने आप ही अपने से क्रीडा करता है। जैसे आँखों में प्रकाश सूर्य ही प्रदान करते हैं। और पदार्थों को भी सूर्य ही प्रकाशित करते हैं। सूर्य न हो तो हम आँखें रहते हुए भी नहीं देख सकते। अतः देखना आदि सूर्य के बिना संभव नहीं। इसी प्रकार सभी कार्य आत्मा के ही द्वारा हो रहे हैं। फिर भी वह इन सबसे निर्लेप बना हुआ है। असत् पदार्थों की प्रसिद्धि आत्मा के ही अधीन है। अतः वह संयोग वियोग दोनों से परे है। अब तू ध्यानपूर्वक विचार कर। लोग कहते हैं अमावस्या के दिन चन्द्र का क्षय हो गया। 'वास्तव में चन्द्रमा का तो कभी क्षय नहीं होता। उसकी कलाओं का क्षय होता है। किन्तु उपचार वश कलाओं के क्षय को लोग चन्द्रमा का ही क्षय मान लेते हैं। ऐसे ही जन्म होना, मरना, बूढ़ा होना ये सब शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। फिर भी लोग इनका आरोप अज्ञानवश आत्मा में ही करते हैं।

अब देखो एक मनुष्य है। शून्य अरण्य में सो रहा है। सोते समय वह स्वप्न देखता है, मैं राजा हो गया। हाथी पर चढ़कर जा रहा हूँ, सुन्दर सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थ खा रहा हूँ, विविध भोगों को भोग रहा हूँ, देखा जाय तो न वहाँ हाथी है, न खाने के पदार्थ ही। फिर भी भोक्ता भावना के अनुसार उनका भोग करता है उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष इस मिथ्या संसार चक्र में फँसकर मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ, दरिद्र हूँ, धनी हूँ, रोगी हूँ इस प्रकार की कल्पनायें करके चिन्तित बना रहता है। इसलिये तू इसे भगवान् की माया समझकर स्वस्थ हो जा। जो होना था, सो हो गया।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने जेठ बलदेवजी के समझाने से रुक्मिणीजी का शोक दूर हो गया। उन्होंने यह सब प्रारब्ध का भोग है, यही समझकर सन्तोष किया।

बलभद्रजी के द्वारा छोड़े जाने पर रुक्मी अत्यन्त उदास

द्वारका में भगवान् का रुक्मिणीजी के साथ विवाह

(१०६४)

भगवान् भीष्मकसुतामेवं निर्जित्य भूमिपान् ।
पुरमानीय विधिवदुपयेमे कुरूद्वह ॥*
(श्रीभा० १० स्क ५४ अ० ५३ श्लो०)

छप्पय

भीष्मक दुहिता जीति , द्वारकामहँ हरि आये ।
बहू आगमन सुनत नगरमहँ बजत बधाये ॥
लग लुगाइनि पुरी और नववधू सजाई ।
कीयो विधिवत ब्याह रुक्मिनी सँग , यदुराई ॥
पाग , दुपट्टा , सिरोपा, पहिन पहिन यादव सजें ।
नारी गावें , गीत मिलि, मधुर , मधुर बाजे बजें ॥

विवाह में सभी को प्रसन्नता होती है। विवाह से बढ़कर प्रसन्नता का अवसर दूसरा कोई नहीं। वर को बहू पाने की बहू को वर पाने की प्रसन्नता होती है। वर के माता पिता को पुत्र वधू और दहेज पाने की प्रसन्नता होती है। बहिन भाइयों को भाभी आने

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! इस प्रकार भगवान् विवाह में आये सभी राजाओं को जीतकर रुक्मिणीजी को द्वारकापुरी में ले आये वहाँ विधिवत् उनके साथ विवाह कर लिया ।"

की प्रसन्नता होती है। बच्चों को मिठाई उड़ाने और बरात आने जाने की प्रसन्नता होती है। सम्बन्धियों को भोज खाने की प्रसन्नता होती है। नौकर चाकर सेवक आश्रितों को पारितोषिक पाने की प्रसन्नता होती है। पुरोहितजी को दक्षिणा पाने का उल्लास रहता है। *सारांश यह है कि विवाह के समय सभी को बड़ा सुख मिलता है।* कई दिन पहिले से बाजे बजते हैं धूमधाम होती है। सब सगे सम्बन्धी एकत्रित होते हैं। स्त्रियों मे एक सरसता की लहर छा जाती है। घर में बहुत से बच्चे एकत्रित हो जाते है। बहिन, बूआ, मौसी, चाची, भाभी, नानी, ताई सभी नये नये कपड़े पहिन कर आ जाती हैं। दिन भर पंचायत होती है। यह नहीं हुआ वह नहीं हुआ, यह लाओ वह लाओ। यह नेग करो, उसे पूजा उसे सजाओ। जिन गृहस्थियों के घरों में ऐसे उत्सव समारोह नहीं होते उन घरों में और स्मशान में अन्तर ही क्या? गृहस्थ के घरों की शोभा एकमात्र विवाहादि उत्सवों से ही है। नव वर वधू के जोड़े के दर्शन करना लक्ष्मीनारायण के दर्शन के समान माना गया है। जहाँ भी वर वधू आते हों तो उनके दर्शन अवश्य करने चाहिये। वर वधू की जोड़ी को देखकर सबको आन्तरिक प्रसन्नता होती है और यदि साक्षात् विष्णु ही वर बन गये हों और लक्ष्मी जी ही वधू के वेष में घूँघट मारे बैठीं हों, तब तो कहना ही क्या। ऐसी जोड़ी के दर्शन अनेक जन्मों के पुण्यों से होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब बलदेवजी ने रुक्मिणीजी के भाई रुक्मी को छोड़ दिया तब यादवों ने जयघोष किया और वे द्वारका की ओर चल दिये। द्वारकापुरी में जब यह समाचार पहुँचा तो नरनारियों के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र को सभी नरनारी प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे। जैसे बड़ी सयानी लड़की माता पिता और बड़े भाइयों की आँखों में खटकती रहती है, उसे जब देखते हैं तभी चिन्तित होते हैं उसी

प्रकार बिना बहू के सयाने लड़के को देखकर भी घर वाले पास पड़ौसी उसे टोकते रहते हैं विशेषकर स्त्रियों को तो बड़ी ही चिन्ता सी हो जाती है। भगवान् के विवाह का सभी को चिन्ता थी सभी भगवान् के युगल रूप में दर्शन करने को लालायित थे। अब जब सब ने सुना कि हमारा मनोरथ अब पूर्ण होगा, तो सब के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। सभी ने ऐसा अनुभव किया मानों हमारे घर में ही विवाह होने वाला है। बड़ी धूमधाम से लोगों ने नव-वधू सहित श्रीकृष्ण की अगवानी की। माताओं के हर्ष का ठिकाना नहीं था। बहू भी क्या थी साक्षात् सुन्दरता की सजीव प्रतिमा थी। वसुदेवजी ने तुरन्त पुरोहितजी को बुलवाया और उनके सम्मुख दक्षिणा रखकर बोले—"अब महाराज शीघ्र से शीघ्र विवाह का कोई शुभ मुहूर्त निकाल दो।"

ग्रह नक्षत्र गिन गिनाकर पुरोहितजी बोले—"राजन्! परसों ही शुभ मुहूर्त है। विवाह तो एक प्रकार से हो ही गया है। अब तो केवल चाँई माँई करनी है। शास्त्रीय विधि का पालन करना है सो परसों सब सम्पन्न हो जाय।"

स्त्रियों ने पुछवाया—पुरोहितजी! तैल कै चढ़ेंगे। हल्दी कब चढ़ेगी?"

पुरोहितजी ने कहा—"आज और कल में तुम्हें तैल हलदी जो भी चढ़ानी हो चढ़ा लो। बहू पर तो तैल हल्दी सब चढ़े चढ़ाये ही हैं। श्यामसुन्दर पर चाहे तैल चढ़ाओ या हल्दी, इन पर तो दूसरा रंग चढ़ने का नहीं। ये तो जैसे के तैसे बने रहेंगे फिर भी तुम अपना नेग जोग कर लो। पाँच तैल चढ़ेंगे। कल कंकण बाँधना।"

यह सुनकर स्त्रियाँ घर में तैयारियाँ करने लगीं। श्रीकृष्ण भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम रखने वाले समस्त यादवों के घर-घर में बड़ा भारी उत्सव मनाया गया था। द्वारका निवासी नरनारी

प्रमोद में भरे, स्वच्छ मणिमय कुण्डलों को धारण किये, नये नये वस्त्रोंको पहिने, आनन्द में विभोर हुए इधर से उधर घूम रहे थे। वर और वधू विविध वस्त्राभूषणों से भलीभांति सजाये गये थे। उनके माथे पर मौर और चन्द्रिका बाँधा गई था। बड़े बड़े सुवर्ण-रजत के थालों में नाना प्रकार के मणि माणिक्य तथा अन्य भी बहुतसी भेंटकी सामग्रियाँ वरवधूको सब लोग उपहारमें दे रहे थे। जिस प्रकार नववधू सजाई गई थी उसी प्रकार द्वारकानाथके विवाहोत्सवमें द्वारका भी भली भाँति सजाई गई थी। चारों ओर ऊँची ऊँची पताकायें फहराई गयी थीं। विवाह मंडपकी छोटी छोटी गलियोंमें तथा बड़े बड़े राजपथोंमें रंग बिरंगी सुगन्धित पुष्पोंकी अम्लानमालायें लटकायी गई थीं। रंग बिरंगे रेशमी शाल दुशाले वन्दनवारों के स्थान में लगाये गये थे। रत्नोंके हार आम्रादिके पल्लव यथा स्थान उत्तमताके साथ बाँधे गये थे। सबके द्वारोंपर माङ्गलिक घट, श्रीफल, दीपक खील, दूर्वादि शुभ सकुन सूचक द्रव्य रखे हुए थे। अगर गुग्गुल आदिकी धूप जल रही थी। पंक्ति बद्ध दीपकोंसे यह नगर खिलखिलाकर हँसती हुई युवती के समान प्रतीत होती थी। पहला ही विवाह था अतः समस्त स्नेही कुटुम्बी और मित्रराजाओंको निमन्त्रित किया गया। महाराज भीष्मक भी कन्यादान करने सपरिवार आ गये थे। उनके ठहरने का भी प्रबन्ध पृथक था। इधर से उधर बड़े बड़े हाथी झूम रहे थे। द्वारों पर लगे कदलीस्तम्भ और सुपारियोंके लम्बे लम्बे वृक्ष आकाशको चूमसे रहे थे। सभीके हृदयमें एक विचित्र प्रकारका अनिर्वचनीय कुतहल-सा हो रहा था। स्त्रियाँ इधरसे उधर नये नये वस्त्रों को पहिने छम्म छम्म करती हुई घूम रही थीं और वर वधू के लिये कुछ न कुछ बना रही थीं। कुरु, सृंजय, कैकेय, विदर्भ, यदु तथा कुन्ति आदि देशोंके राजा रानी सपरिवार आये थे। सभी अपना अनन्त वैभव प्रदर्शित कर रहे

थे। सर्वत्र रुक्मिणीजीके हरणकी ही चर्चा थी। राज
विस्मयके साथ उस वृत्तान्तको कहते। थे राजकन्यायें रु
के हरणकी बातें सुनकर मन ही मन बड़ी प्रसन्न होतीं।'

यह सुनकर शौनकजीने पूछा—"सूतजी! राजकन्य
की बातसे प्रसन्न क्यों हुईं?"

सूतजी बोले—"महाराज! ऐसी कौनसी पुण्यात्मा
कन्या होगी जो श्यामसुन्दरको अपना वर बनाना
पहिले तो वे सोचती थीं—"संभव है श्यामसुन्दर हमें
कर या हमारे पिता ही हमें उनके लिये न दें। किन्तु इ
उन्हें आशा हो गई कि यदि हमारे पिता प्रसन्नतासे ह
को न देंगे, तो वे आकर हरण भी कर सकते हैं।"

शौनकजीने कहा—"हाँ सूतजी! हमने तो सुना,
के विवाहके पश्चात् भगवान् को विवाह करने का
गया था। सुना है भगवान्ने रुक्मिणीजी के विवाह
दनादन है दनादन विवाहके, ऊपर विवाह, विवाहके
करने आरम्भ कर दिये। सुना सोलह हजार एक
विवाह भगवान्ने किये। आप उन सबकी कथा हमें
समय तो रुक्मिणीजीके ही विवाहको सुनावें। महार
कैसे विवाह किया?"

हँसकर सूतजी बोले—"अजी महाराज अब स
विवाहोंका विस्तारसे वर्णन करने लगूँ तब तो हो ग
कथा।" फिर तो यह विवाह कथा ही होगी।
पटरानियों के विवाहोंको संक्षेप में सुनाकर फिर सोल
कथा एक ही बार में कह दूँगा। हाँ तो मैं भूल गया
था मैं?"

शौनकजीने कहा—"महाभाग! आप भगवान
विवाहका वर्णनकर रहे थे।"

सूतजीने कहा—"हाँ हाँ! शौनकजी भगवान् आपका भला करें, आपकी बड़ी आयु हो। हाँ, तो महाराज भीष्मक ने भगवान् को बुलाकर आसन पर बिठाकर उनकी पूजाकी, विष्टर, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय तथा मधुपर्क दिया। फिर अंग न्यास कराके—गोदान किया। तदनन्तर अग्नि स्थापन पूर्वक वस्त्रदान दिया। फिर महाराज शास्त्रोच्चार पूर्वक कन्यादान का संकल्प किया। फिर महाराजभीष्मक ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—

कन्यां कनक संपन्नां कन्यका भरणैर्युताम्।
दास्यामि विष्णवेतुभ्यं ब्रह्मलोक जिगीषया॥
विश्वम्भरः सर्वभूता साक्षिण्यः सर्वदेवताः।
इमां कन्यां प्रदास्यामि पितृणां तारणाय च॥*

ऐसी प्रार्थना करके महाराज ने भगवान् को अपनी पुत्रीका दान दिया। फिर सब लोगों ने कन्यावर के पैर धोये। फिर आचार्य के कहने से कन्याने वरको और वरने कन्याको देखा जब दोनों की देखा देखी हो गई तो दोनोंने अग्निकी प्रदक्षिणाकी। प्रदक्षिणा करके पूर्वाभिमुख होकर कुशकण्डिकापूर्वक दोनों ने अग्नि में हवन किया। तदनंतर भगवान्ने रुक्मिणीजीकी सिंदूरसे मांग भरी। हवन हो जानेके पश्चात् रुक्मिणीका कर भगवान्‌केकर कमल के ऊपर रखा गया। उसमें महाराजभीष्मकके सबसे छोटे पुत्र रुक्ममालीने धानकी खीलें दीं। उससे लज्जा होम हुआ। फिर शिलापर पैर रखाया गया। दोनोंने अग्निकी प्रदक्षिणा की।

---

*अर्थात् कन्याका पिता वरसे प्रार्थना करता है—"यह जो मेरी कन्या सुवर्णसे सम्पन्न है तथा वस्त्राभरणोंसे अलंकृत है, उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति के निमित्त विष्णुस्वरूप जो आप वरको देता हूँ। विश्वम्भर सम्पूर्ण प्राणी तथा सम्पूर्ण देवताको साक्षी करके पितरोंको तारने के निमित्त इस कन्याको मैं दे रहा हूँ।"

फिर सप्तपदी होकर विवाह कार्य सम्पन्न हुआ।

इस प्रकार समस्त वेदाचार लोकाचार होने के अनन्तर दोनों वरवधू महलों में गये। वहाँ माताओं ने अनेक देवी देवताओं को पुजवाया और अपने घरके जो नेग जोग होते हैं, वे सब कराये। यह सब कराने के अनन्तर दोनों सुखपूर्वक राजमहलों में रहने लगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! विवाह के पश्चात् माता पिता तथा परिवार के सभी लोगों को आशा लग जाती है, कब पुत्र उत्पन्न हो। अतः अब जिस प्रकार भगवान् के पुत्र उत्पन्न हुआ उस कथाको मैं आगे कहूँगा। आप भगवान् के पुत्रोत्पत्तिकी इस कथाको समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

सुन्दर मंडप सज्यो बधू अरु बर बैठाये।
गणपति ग्रह अरु मातृकादि पूजन करवाये॥
भाँमर फिरि कर गह्यो खीलको हवन करायो।
नेग जोग सब करे माँग सिंदूर भरायो॥
करिकैं पलंगाचार पुनि, कर्म चतुर्थी हू कियो।
यों श्रीरुक्मिनि संगमहँ, ब्याह श्यामको ह्वै गयो॥

———

श्रीरुक्मिणीजीसे प्रद्युम्नकी उत्पत्ति

(१०६५)

कामस्तु वासुदेवांशो दग्धः प्रागुरुद्रमन्युना।
देहोपपत्तये भूयस्तमेव प्रत्यपद्यत ॥
स एव जातो वैदर्भ्यां कृष्णवीर्यसमुद्भवः।
प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५५ अ० १, २ श्लो०)

छप्पय

सुखी भये सब स्वजन निरखि अति अनुपम जोरी।
मातु मनावें होहिं कृष्ण के छोरा छोरी॥
'जने पुत्र' नित विप्र कहैं सुनि सकुचे बाला।
कृपा करहीं करी जन्यो वैदर्भी लाला॥
कामदेव जो प्रथम ही, शंभु कोप तैं जरि गयो।
सोई बनि प्रद्युम्न पुनि, प्रथम पुत्र हरिको भयो॥

जैसे विद्या का फल विनय है, यज्ञ का फल स्वर्ग है, पाप का फल दुःख है। वृक्ष का फल फल है उसी प्रकार विवाह का फल

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! भगवान् वासुदेवका ही अंश काम है, वह पहिले शंकरजीके कोपसे भस्म हो गया था। जब फिर उसने देह प्राप्तिकी इच्छाकी तो उसने उन्हीं भगवान्का आश्रय ग्रहण किया। अतः वही काम भगवान्के वीर्यसे रुक्मिणीजीमें पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। 'प्रद्युम्न' इस नामसे वह विख्यात हुआ और अपने पिता के सब प्रकारसे सदृश ही था।"

पुत्र है। विवाह होने पर भी जिसने पुत्रका पुनीत मुख नहीं देखा, उसका विवाह करना व्यर्थ है। पुत्रोत्पन्न करना एक अत्यंत पुण्य-का कार्य है। पिता पितामहोंके द्वारा जो शरीर न्यास रूपसे प्राप्त होता है पुत्रोत्पन्न करके उनके ऋणसे उऋण हुआ जाता है। जो पुत्रोत्पन्न किये बिना ही मर जाता है, वह पितरोंका ऋणी रहता है। अपुत्रीकी गति नहीं, उसे स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती। पुन्नामका एक नरक है, उससे पुत्र ही पार कर सकता है। पुत्र अपनी आत्मा ही है, अपना ही एक अंश है, स्वयं पति ही पत्नीके उदर में प्रविष्ट होकर बालक बनकर उत्पन्न होता है। इसीलिये पुत्र-वती पत्नीकी "जाया" संज्ञा है। पुत्र उत्पन्न होने पर वह नववधू नहीं रहती "माता" बन जाती है। कोई मातृ पितृ दोष न हो तो प्रायः पुत्र पिताके ही अनुरूप होता है। पुत्र प्राप्ति होना यह विवाहका परम सुख है। विवाहसे भी अधिक आनंद घरमें पुत्रो-त्पत्तिके समय होता है। पुत्रोत्पन्न होने पर पृथिवीके ही स्वजन प्रसन्न नहीं होते अपितु पितृलोकमें बैठे पितृ गण भी आनन्दमें विभोर होकर नाचने लगते हैं। वे भी सोचते हैं, हमारा श्राद्ध तर्पण करने को एक अधिकारी आ गया।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् तो आप्त काम हैं, सत्य संकल्प हैं। सम्पूर्ण चराचर जगत्‌के पिता हैं। उन्हे तो न कोई इच्छा न कामना। फिर भी जब वे लोक संग्रहके निमित्त क्रीड़ा करनेके लिये-मनुष्य शरीर धारण करते हैं, तो समस्त मानवीय लीलाओंको प्रदर्शित करते हैं। लोकवत् व्यवहार करते हैं। जब उन्होंने मथुरामें यदुवंशमें अवतार लिया, तो उनकी शक्ति लक्ष्मीजी भला कैसे रह सकती थी। उन्होंने भी विदर्भाधिप महाराज भीष्मकके यहाँ अवतार लिया। अपनी वस्तु कहीं भी क्यों न हो वह अपनेको अवश्य मिल ही जाती है। जो हमारे भाग्यकी वस्तु है, वह दूसरेकी हो ही नहीं सकती और जो हमारे

भाग्य में नहीं है वह लाख प्रयत्न करने पर भी हमें प्राप्त नहीं हो सकती।

जिस कामदेव ने सम्पूर्ण संसार को अपने वश में कर रखा है, वह भगवान् वासुदेव का एक अंश है। धर्म से अविरुद्ध काम भगवान् की एक अत्युत्तम विभूति है, उसी विभूति के सहारे यह संसार चक्र चल रहा है। जैसे सब देवताओं के स्वरूप होते हैं, वैसे ही कामदेव का एक अत्यन्त मनोहर रूप है, उसका धनुष अत्यन्त मधुर ईख का बना हुआ है, अत्यन्त सुगन्धित पुष्पों के उसके बाण है। कामदेव अत्यन्त अभिमानी है, उसका एक पुत्र है क्रोध क्रोध के सामने यह कुछ दब जाता है। बड़े पुत्र के सम्मुख पिता का दब जाना उचित ही है। कामदेव का अभिमान इससे और भी अधिक बढ़ गया, कि उसने उत्पन्न होते ही अपने जनक ब्रह्माजी को भी पछाड़ दिया। जहाँ अभिमान हो जाता है, वहीं से पतन आरम्भ होता है। जब तक नम्रता रहती है, तब तक प्राणी अपने स्वरूप में रहता है। कामदेव ने सोचा— "मैंने सब देवताओं को जब वश में कर लिया है, तब महादेव को भी वश में कर लूँगा। उसने उन पर आक्रमण किया। महादेव जी की ओर काम का पुत्र क्रोध मिल गया। इसलिए शिवजी ने क्रोध की सहायता से काम को मार डाला। काम की पत्नी रति रोती रोती आई। स्त्री के रुदन को देखकर उसका पुत्र भी शान्त हो गया और दक्ष की कन्या दया ने भी शिवजी के हृदय को पिघला दिया। दया के वशीभूत होकर शिवजी ने कहा—"अच्छी बात है, तू कहीं छिपकर प्रतीक्षा कर तेरा पति फिर भी शरीर धारी होगा।"

देवताओं ने रति का पक्ष लिया वे बोले—"महाराज! इनका पति जाने कब शरीरधारी होकर उत्पन्न होगा, तब तक संसार का काम कैसे चलेगा? कामना के बिना तो कर्मों में प्रवृत्ति ही नहीं होती और कर्म ही संसार का चक्र को चला रहे हैं।"

शिवजी ने कहा—"देखो, भाई घबड़ाने की कोई बात नहीं। असमय में सृष्टि का संहार तो मैं भी नहीं कर सकता। काम तो भगवान् वासुदेव का अंश है, अंशी और अंश में कोई भेद नहीं होता जैसे वासुदेव नित्य है वैसे ही उनका अंशभूत काम भी नित्य है। मैंने इसके अंग को ही नष्ट किया है। काम की आत्मा तो विद्यमान ही है। आज से मेरे आशीर्वाद से बिना अंग के ही यह कामदेव समस्त प्राणियों के हृदय में रहकर उनके मन को मथता रहेगा। कोई भी प्राणी इससे बच न सकेगा। तब से काम के "अनङ्ग" और "मन्मथ" ये नाम प्रसिद्ध हुए। वैसे रहता तो यह प्राणी मात्र के हृदय में है. किन्तु स्त्री पुरुष को देखा देखी होते ही यह दोनों के मन को मथने लगता है। जब सशरीरी था, तब इसका इतना प्रभाव नहीं था अनङ्ग होने से इसका प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया। कब यह हृदय में घुस कर मन को चंचल बना देता है। इसका पता लगता नहीं। अनंग होने पर इसका गर्व और बढ़ गया।

यह श्रीकृष्णावतार ऐसा गूढ़ रूप से हुआ कि औरों को तो बात ही क्या। ब्रह्माजी भी चक्कर में आ गये। जब श्रीकृष्ण को ग्वालबालों का जूठा खाते देखा, तब सर्वज्ञ ब्रह्माजी को संदेह हो गया, यह कैसा अवतार है। इसकी परीक्षा के लिए बछड़े चुराये क्या क्या हुआ यह सब प्रसंग पीछे आ चुका है। इन्द्र को भी संदेह हो गया, यम, वरुण कुबेर सभी को भगवान् की महत्ता पर संदेह हुआ और सबके संदेह को भगवान् ने निवारण किया। अनंग ने जब देखा श्रीकृष्ण अत्यन्त सुन्दर होकर एकान्त में गोपियों के साथ हँसी विनोद करते हैं चोरी, होरी, दान मान आदि के द्वारा उनके साथ विविध प्रकार की सरस क्रीड़ायें करते हैं। फिर भी इनके मन में विकार नहीं होता। यह तो विचित्र पुरुष हैं, एक दिन इससे युद्ध करूँ। युद्ध किया, भगवान् ने रास में

उसे परास्त किया। काम शरण में गया। तब भगवान् ने कहा—"अरे, भाई! तू तो मेरा अंश ही है। जब मैंने अवतार लिया है, तो तू भी मेरा पुत्र बनकर पैदा हो।"

कामदेव ने पूछा—"महाराज! आपकी तो ये असंख्यों गोपिकायें प्रिया हैं, किसके उदर से उत्पन्न होऊँ?"

भगवान् हँसकर बोले—"अरे, तू बड़ा पागल है। अरे, भाई जिसके साथ यज्ञ किया जाता है, उसकी पत्नी संज्ञा होती है, ये गोपिकायें मेरी पत्नी थोड़े ही हैं, ये तो मेरी प्राण प्रियायें हैं मेरी आत्मायें हैं। इनके बच्चे थोड़े ही उत्पन्न होते हैं, ये तो सदा कृशोदरी रहती हैं। मैं द्वारका में विदर्भाधिप महाराज भीष्मक की कन्या रुक्मिणी से सर्व प्रथम विवाह करूँगा, उसके गर्भ से तू उत्पन्न होना। तू मेरा सबसे ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न होगा।"

भगवान की बात सुनकर कामदेव चला गया। जब भगवान् मथुरा से द्वारका आये और रुक्मिणीजी के साथ विधिवत् विवाह कर लिया, तो कामदेव को तो तड़ातड़ी लग रही थी वह तुरन्त ही भगवान् के मन में बैठ गया और उनके वीर्य के द्वारा भगवती रुक्मिणीजी के उदर में प्रवेश कर गया। दशवें महीने में वही पुत्र बनकर उत्पन्न हो गया। पुत्रोत्पत्ति का समाचार सुनते ही सम्पूर्ण द्वारका में आनन्द का सागर सा उमड़ने लगा। सर्वत्र प्रसन्नता छा गई। बाजे बजने लग गये, ब्राह्मणगण वेद घोष करने लगे। समस्त जात कर्मादि संस्कार कराये। ये ही पुत्र हुए काम के अवतार प्रद्युम्नजी।

कामदेव की पत्नी रति भी अपने पति के जन्म की प्रतीक्षा में अपना वेष बदल कर जहाँ तहाँ दिन बिता रही थी। उन दिनों वह शम्बरासुर के यहाँ रह रही थी। शम्बरासुर उन दिनों समुद्र के किनारे राज्य करता था। वह बड़ा बली था। कंस जरासन्ध और शिशुपाल के ही पक्ष का था। वह मायावी असुर था,

जैसा चाहता था, तब, वैसा रूप बना लेता था। एक दिन उसकी सभा में नारदजी आये। नारदजी से उसने पूछा—"भगवन्! मेरी मृत्यु किसके द्वारा होगी ?"

नारदजी ने कहा—"राजन्! श्रीकृष्ण के वीर्य से रुक्मिणी जी से एक पुत्र होगा, वही तुम्हारा शत्रु है। यदि तुम उससे किसी प्रकार बच सको, तो फिर तुम्हें कोई नहीं मार सकता।"

यह सुनकर वह बड़ा चिन्तित हुआ और टोह लगाता रहा। वह काम रूपी तो था ही। जब उसने सुना कि रुक्मिणीजी के पुत्र उत्पन्न हो गया है, तो वह बड़ी सुन्दर धाई का रूप बनाकर अन्तःपुर में चला गया। प्रसूतिका घर में धाई तो जाती ही हैं। वह वहाँ जाकर स्त्रियों में मिल गया। जिस दिन बच्चे की छठी का दिन था, उसी दिन रात्रि में चुपके से माता की गोदी से बच्चे को उठा लाया। स्त्री वेष में होने से किसी को कुछ सन्देह भी नहीं हुआ, वह अन्तःपुर के बाहर आ गया।

अब उसने देखा, बच्चा अत्यन्त ही सुन्दर है। कमलदल के सदृश अत्यन्त विकसित परम सुहावने उसके बड़े बड़े नेत्र हैं। चन्द्रमा के समान सुन्दर उसका मुख है। शुक के समान उसकी सुन्दर नासिका है। यह सुन्दरता ऐसी आकर्षक वस्तु है, कि वज्र से वज्र हृदय भी पिघल जाता है। सौंदर्य में इतना आकर्षण होता है, कि क्रोधी से क्रोधी का भी क्रोध कपूर के सदृश उड़ जाता है। शम्बरासुर ने जब शिशु की सुन्दरता को देखा, तो उसका हृदय पानी पानी हो गया। वह सोचने लगा—"हाय! इतने सुन्दर शिशु को मुझे मारना होगा ? ऐसे कुकृत्य करने वाले मुझको धिक्कार है।' किन्तु फिर जब उसे यह बात स्मरण आई कि इसी के द्वारा मेरी मृत्यु होगी, तो उसके हृदय से दया चली गई। मृत्यु से बचने के लिये तो मनुष्य सब कुछ कर सकता है। उसने सोचा—"चाहे जो हो, इसे मारना ही होगा।"

यह सोचकर वह बालक का गला दबाने को उद्यत हुआ। किन्तु बच्चे की बड़ी बड़ी आँखों को देखकर तथा उसके हँसते हुए भोले भाले स्वरूप को देखकर उसका साहस न हुआ। उसके मन में द्वन्द्व युद्ध हो रहा था। अन्त में उसने सोचा—"अच्छी बात है इसे अपने हाथ से न मारूँ कड़ा हृदय करके इसे समुद्र में फेंक दूँ, वहाँ वह अपने आप ही समुद्र में डूबकर मर जायगा।" यही सब सोचकर उसने बालक को शीघ्र समुद्र में फेंक दिया। बालक डूब गया, तब वह निश्चिन्त होकर अपने घर चला गया।

इधर जब रुक्मिणीजी की आँखें खुलीं तो उन्होंने देखा शैया पर शिशु नहीं है। उन्होंने तुरन्त दासियों को जगाया। चारों ओर खोज होने लगी। अन्तःपुर में रोया पीटी मच गई। माता कुररी पक्षिणी की भाँति विलाप करने लगीं। छै दिन से जो धूम धाम प्रसन्नता हो रही थी वह आज शोक के रूप में परिणित हो गई। सर्वत्र हाहाकार मच गया। भगवान ने भी सुना वे भी आये। वे तो सब जानते थे, किन्तु लोक दिखावे को वे भी आँसू बहाने लगे। सब आश्चर्य कर रहे थे, लड़का गया कहाँ से, किन्तु किसी को कुछ पता ही नहीं चला। अन्त में सब निराश हो गये।

प्रद्युम्नजी तो चतुर्व्यूह में से एक हैं वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्नजी और अनिरुद्ध ये ही चतुर्व्यूह हैं। उनमें चित्ताधिष्ठातृदेव प्रद्युम्न हैं, उनको अग्नि, जल, काल कोई भी नाश नहीं कर सकता। फिर जिसकी मृत्यु आई नहीं है उसे चाहें काल के मुख में भी डाल दो, तो भी वहाँ से भी बच आवेगा और जिसकी मृत्यु आ गई है, वह कहीं चला जाय, अवश्य मर जायगा। प्रद्युम्नजी की मृत्यु नहीं थी, अतः ऊपर से समुद्र में डालते ही एक बड़ी मछली उन्हें ज्यों का त्यों निगल गई। उसी समय बहुत

से मल्लाहों ने जाल डाला था। उस जाल में अन्य बहुत सी मछलियों के साथ वह भी मछली पड़ गई। इतनी बड़ी मछली को जाल में फँसा देखकर मल्लाह प्रसन्नता के कारण फूले नहीं समाये। उन्होंने सोचा—"बाजार में हम इस मछली को बेचने जायँगे, तो दस बीस रुपये मिल जायँगे, किन्तु यदि हम अपने राजा शम्बरासुर को इसे भेंट कर दें, तो न जाने, वह हमें क पारितोषिक दे दे। उसे तो माँस मछली अत्यन्त ही प्रिय है, यह सब सोचकर वे उस बड़े भारी मत्स्य को शम्बरासुर के समीप गये और उपहार में उसे उसके लिये अर्पित किया। उसने मल्लाह को बहुतसा धन देकर विदा किया।

वह बड़ा भारी मत्स्य तुरन्त भोजनालय में भेजा गया रसोइयों ने तीक्ष्ण छुरे से उसका पेट चीरा, तो उसके पेट में ए अत्यन्त ही सुन्दर बालक निकला। शम्बरासुर के अन्तःकर में जो रति मायावती के नाम से रहती थी, उसे ले जाक रसोइयों ने दे दिया। मायावती मछली के पेट से ऐसे सुन्द बालक को निकला देखकर शंका में पड़ गई। उसे बार बार यह सन्देह होने लगा हो न हो ये मेरे पति हैं। वह इसी चिन्ता पड़ी थी, कि इतने में ही वीणा बजाते हरिगुण गाते नारदज वहाँ आ पहुँचे। नारदजी को देखकर मायावती उठकर खड़ी ह गई उनका स्वागत सत्कार किया। कुशल प्रश्न के अनन्तर नारद जी ने पूछा—"रानीजी! आज आप बड़ी चिन्तित दिखाई देती हैं, क्या कारण है?"

मायावती ने कहा—"ब्रह्मन! आप तो सर्वज्ञ हैं, आपसे क्या छिपाना। आज रसोई घर में एक मछली चीरी गई, उसके उदरसे एक अत्यंत ही सुन्दर सुकुमार शिशु निकले हैं। उन्हीं के विषयमें मैं सोच रही हूँ, वे कौन हैं?"

नारदजी ने कहा—"रानीजी! इसमें सोच करनेकी कौनसी

बात है, आपको तो अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिये। आप तो रति हैं और ये आपके पूर्व जन्म के पति कामदेव हैं। इन्होंने भगवान्‌के वीर्यसे रुक्मिणीजी के गर्भ से जन्म ग्रहण किया। मेरे कहने से शम्बरासुर सूतिका गृह से हरकर ले आया और समुद्र में फेंककर चला आया। तभी ये मछली के पेट में गये और तुम्हारे यहाँ आ गये। अब जब तक ये बड़े न हों, तुम सावधानी से इनका लालन पालन करना। जब बड़े हो जायँ, तो इन्हें माया सिखा देना। इस शम्बरासुर को मरवाकर इनके साथ भागकर द्वारका चली जाना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारदजी के वचनों पर पूर्ण विश्वास करके मायावती गुप्त रूप से प्रद्युम्नजी का पालन पोषण करने लगी। अब प्रद्युम्नजी का तो पालन पोषण होने दें तब तक लगे हाथ भगवान् के अन्य विवाहों की भी कथा सुन लें।"

छप्पय

शम्बर तिहि रिपु समुझि सुतिका घर महँ आयो।
शिशुकूँ करिकें कपट धाइ बनि घर तैं लायो॥
फेंक्यो सागर वत्स मत्स्यने निगल्यो जीवित।
मछुआ ताहि फँसाइ ले गये शम्बर के हित॥
निवसति रति शम्बर महल, मत्स्य उदर महँ मिल्यो पति।
नारद मुनि परिचय दयो, पालति पति ह्वै मुदित अति॥

स्यमन्तकोपाख्यान

(१०६६)

सत्राजितः स्वतनयां कृष्णाय कृतकिल्बिषः।
स्यमन्तकेन मणिना स्वयमुद्यम्य दत्तवान् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५६ अ० १ श्लो०)

छप्पय

प्रथम कृष्णको ब्याह पुत्र उतपत्ति सुनाई।
मणि स्यमन्तकी कथा सुनो अब अति सुखदाई॥
सतभामा अरु जाम्बवती जिहि कारन पाई।
हरिने लीला लोभ मोहकी दुखद दिखाई॥
सत्राजित यादव परम, सूर्यभक्त लोभी सरल।
है प्रसन्न ताकूँ दई, सूर्य स्यमंतक मणि अमल॥

जीव में और भगवान्‌में इतना ही अन्तर है, जीव अल्पज्ञ है भगवान् सर्वज्ञ हैं। जीव के संकल्प विफल भी हो जाते हैं, भगवान् सत्य संकल्प हैं। जीव माया से आवद्ध हैं भगवान् मायिक बन्धनों से परे हैं। जीव अनुमान के आधार पर सोचता

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! सत्राजितने अपनी कन्याको स्यमंतकमणिके साथ स्वयं ही भगवान्‌को अर्पण कर दिया, क्योंकि उसने भगवान्‌को कलङ्क लगाया था।"

है। भगवान्‌के लिये सब विषय हस्तामलकवत् हैं। जीव क्षुद्र है भगवान् महान् हैं। जीव एक सीमा में आबद्ध है, भगवान् सीमा से परे हैं। जीवका मायासे संसर्ग न हो तब तो वह शिव बना ही बनाया है। फिर न उसे साधनानुष्ठान करनेकी आवश्यकता और न मोक्ष प्राप्ति की इच्छा। मुक्तिकी इच्छा तो बद्धको ही होगी। बन्धन है मायामें। मायाके संसर्ग से ही उसकी जीव संज्ञा है। तामिस्र, अंधतामिस्र, मोह महामोह और तम, यही पंचपर्वा अविद्या है। इसी ने जीवके विशुद्ध ज्ञानको ढक लिया है। इसीके वशीभूत होकर जीव लड़ता झगड़ता है, एक दूसरे पर सन्देह करता है, लांछन लगाता है, बुरा भला कहता है, छल कपट करता है और नाना भाँति के प्रपञ्च रचता है।

जब भगवान् भी संसार में आकर संसारी लोगों के साथ क्रीडा करते हैं। उनके साथ हँसते और नरनाट्य करते हैं, तो सर्व साधारण अल्पज्ञ जीव उन्हें भी अपने ही समान कर्म-बन्धनों में बँधा हुआ समझते हैं। उनके कार्यों पर भी शंका करते हैं। उन पर भी लांछन लगते हैं, उनकी भी समालोचना करते हैं। भगवान् को तो नरनाट्य करना है, ऐसे अवसर पर वे अपनी भगवत्ताका प्रदर्शन नहीं करते, सब कुछ साधारण लोगों के समान सह लेते हैं। सत्य तो कभी छिप नहीं सकता। वह तो किसी न किसी दिन अवश्य ही प्रकट हो जायगा। जब सत्य प्रकट हो जाता है, तब जीवोंको उनकी महत्ता मालूम होती है और फिर उनके गुणों का गान करके इस संसार सागर-को तर जाते हैं। यदि दुष्ट लोग सज्जन पुरुषों को लांछन लगाने से छोड़ देते, तो इस संसारको हेय, दुःखमय, तथा त्याज्य शास्त्रकार क्यों बताते। जब गंगाजल के सदृश विमला जगज्जननी भगवती सीता को भी खलों ने लांछित किये बिना नहीं छोड़ा। जिस कारण मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र को अत्यन्त कष्ट

के साथ—निर्दोषा समझते हुए भी उनका परित्याग करना पड़ा, तो साधारण लोगों की तो बात ही क्या। यह लोभ ऐसी बुरी वस्तु है, कि इसके कारण अपने पराये हो जाते हैं, मित्र शत्रु बन जाते हैं। भाई भाई से द्वेष करने लगता है। यही सब दिखाने के निमित्त भगवान् ने स्यमन्तकमणिकी लीला प्रदर्शित की।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! मैंने आपको भगवान् के प्रथम विवाह की कथा और उनके प्रथम पुत्र प्रद्युम्न की उत्पत्ति का कथा आपको सुना दी। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने भगवान के सोलह हजार एक सौ आठ विवाह बताये थे और आपने यह आश्वासन दिया था, कि आप आठ विवाहों का वृत्तान्त सुनाकर शेष विवाहों की बात पीछे सुनायेंगे। सो महाभाग! आप हमें भगवान के अन्य विवाहों की कथा सुनावें।"

हँसकर सूतजी बोले—"मुनियो! आप तो जन्म से ही गृह-त्यागी बाबाजी हैं, आप विवाह फिवाहकी कथाओंकी क्यों सुनना चाहते हैं। यह तो गृहस्थियों के सुनने योग्य कथायें हैं। आप इनके प्रति इतना अनुराग क्यों प्रदर्शित कर रहे हैं।"

यह सुनकर शौनकजी गम्भीर हो गये और बोले—"सूतजी! देखिये, मनुष्य जहाँ से उत्पन्न होता है, जिन कारणों से उत्पन्न होता है, उसमें उसके संस्कार कुछ न कुछ शेष रह ही जायँगे। हमारे पिता, पितामह, प्रपितामह सभीने विवाह किया है, सभीके पुत्र उत्पन्न हुए हैं सभी को पुत्रोत्पन्न होने में प्रसन्नता हुई है सभीने बड़े उल्लासमें इन उत्सवों को मनाया है। उन सबके संस्कार हमारे भीतर सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहते हैं। इसी लिये प्राणि-मात्रकी स्वभाविक इच्छा विवाह करने और पुत्रोत्पन्न करने की होती है। जीवमात्रकी इन कामों में स्वतः प्रवृत्ति होती है। अब

हम लोगों ने अपना सर्वस्व भगवान के लिये अर्पण कर दिया है। अपनी इच्छाओं को भगवान की इच्छा में मिलाने का सतत् प्रयत्न करते रहते हैं। इसी लिये निरन्तर यज्ञ याग, कथा, कीर्तन आदि भगवत् सम्बन्धी कार्यों में अपने मन को लगाये रहते हैं, कि मन की जो स्वाभाविकी प्रवृत्ति विषयों में जाने की है वह विषयों में न लगकर भगवान में लगे। जब हम सर्वतोभाव से भगवान के दास हो चुके हैं, तो दास को अपने लिये कुछ भी करने का अधिकार नहीं। यदि वह स्वामी को भूलकर अपने लिये कुछ करता है, तो व्यभिचार करता है, पाप करता है। उसे तो स्वामी की ही प्रसन्नता में प्रसन्नता मनानी चाहिये। स्वामी के ही सुख को सुख समझना चाहिये। इसलिये भगवद्भक्त जो भी उत्सव करते हैं भगवान के सम्बन्ध से ही करते हैं। भगवान् का जन्मोत्सव मनाते हैं, उसी उत्साह से मनाते हैं मानों हमारे घर में ही पुत्र उत्पन्न हुआ हो। तुलसी शालग्राम का विवाह करते हैं, भगवान के विवाहों की कथा सुनते हैं। जो जो भी अपने संस्कार होते हैं उन्हें भगवान के सम्बन्ध से करते हैं भगवान की रामलीला श्रद्धापूर्वक सुनने से काम भाव की निवृत्ति होती है। भगवान् की सभी लीलायें हमारे हृदय में भक्ति भाव का सञ्चार करती हैं। अतः संसारी लोगों के विवाह की कथा सुनना तो वर्जित है, किन्तु भगवान के विवाह की कथा तो हमारे साधन में परम हितकर है।"

यह सुनकर हँसते हुए सूतजी बोले—"हाँ महाराज! यही बात है। भगवान् अवतार लेकर इसीलिये लोकवत्लीला करते हैं, जिससे नित्य, मुक्त, बद्ध और मुमुक्षु सभी श्रेणी के जीवों को सुख देने वाली हों। हाँ तो मैं भगवान के दूसरे और तीसरे विवाह की कथा सुनाऊँगा। सत्राजित नामक एक यादव था। उसने श्रीकृष्ण के ऊपर जो मिथ्या कलंक लगाया था उस

कलंक को धोने के लिये स्यमंतकमणि के सहित अपनी कन्या भगवान् को दी।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! निष्कलंक भगवान् को सत्राजित ने कलंक क्यों लगाया। स्यमंतकमणि उसे कहाँ से मिली। स्यमंतकमणि और कन्या से क्या सम्बन्ध? कृपा करके हमारे इन प्रश्नों का उत्तर आप पहिले दें, तदनंतर विवाह की कथा सुनावें।"

सूतजी बोले—"महाराज! यह तो आपने बहुत बड़ा प्रश्न कर दिया, अच्छी बात है पहिले मैं संक्षेप में स्यमंतकमणि का ही उपाख्यान सुनाता हूँ।

यदुवंश में एक सात्वत नाम के बड़े ही प्रतापी राजा हो गये हैं, जिनके कारण इस वंश का नाम सात्वतवंश भी है। उन महाराज सात्वत के सात पुत्र हुए। उन सातों में से चौथे वृष्णि हुए। ये भी बड़े प्रतापी थे, इनके नाम से ही यदुवंशियों को वृष्णि वंशीय भी कहते हैं। भगवान् का इन्हीं के सम्बन्ध से वार्ष्णेय नाम है। इन वृष्णि के दो पुत्र हुए सुमित्र और युधाजित के दूसरे पुत्र हुए अनमित्र, अनमित्र के पुत्र हुए निम्न। इन निम्न के दो पुत्र हुए बड़े सत्राजित और छोटे प्रसेन।

सत्राजित बड़े धर्मात्मा थे, वे निरन्तर सूर्य की उपासना करते रहते थे। इनकी उपासना से प्रसन्न होकर सूर्यदेव इनके बड़े भारी मित्र हो गये। इनके साथ मित्रता का व्यवहार करने लगे। एक मित्र की अपने दूसरे मित्र को कोई सुन्दर अपूर्व वस्तु उपहार में देने की स्वाभाविकी इच्छा होती है। सूर्यदेव ने भी सोचा—"यह मेरा भक्त है, मित्र है, इसे कोई ऐसी अपूर्व वस्तु मैं दूँ, जो किसी के पास भी न हो, और फिर इसे किसी से भी कुछ याचना करने की आवश्यकता न रहे।" यही सब सोचकर सूर्य भगवान् ने इन्हें एक स्यमंतक नाम की मणि दी। यह मणि दिव्य थी। उस मणि में

ऐसा गुण था, कि उसे पूरा करके रख दो तो वह मणि प्रतिदिन आठ भार सुवर्ण देता था ?"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! भारका परिमाण क्या होता है ?"

सूतजीने पूछा—"महाराज ! चार धानकी एक गुञ्जा होती है। अर्थात् एक रत्ती। पाँच गुञ्जाका एक पण होता है। (अर्थात् आधे मासेसे कुछ अधिक) आठ पणका एक धरण। आठ धरणका एक कष होता है। (आधी छटाँक से कुछ अधिक) चार कषका एक पल होता है। (ढाई छटाँक के लगभग) सो पलका एक तुला होती है। (सोलह सेरके लगभग) बीस तुलाका एक भार होता है। अर्थात् आज के नाप से आठ मनका एक भार होता है इस प्रकार आठ भार सुवर्ण वह मणि प्रतिदिन देती थी।"

शौनकजीने कहा—"सूतजी ! तब तो वह मणि क्या थी, सुवर्ण की खान थी।"

सूतजी बोले—"इतना ही नहीं महाराज ! जहाँ भी वह भली भांति पूजित होकर रहती थी, वहाँ न तो कभी दुर्भिक्ष पड़ता था, न महामारी तथा अन्यान्य ग्रहोंकी पीड़ा ही होती थी। उसके रहनेसे सर्पका भय, शारीरिक पीड़ा, मानसिक संताप तथा मायावियोंके उपद्रव आदि कुछ भी अनिष्टकारक कर्म नहीं होते थे। ऐसा दिव्य मणिको स्नेहवश सूर्यदेवने सत्राजित् को दिया। उस दिव्य मणिको पाकर सत्राजित् परम प्रसन्न हुआ। दूर से वह मणि सूर्यके समान चमकती थी। मणि पाकर उसकी प्रसन्नतामें वह उसे कंठ में पहिनकर समुद्रतटसे द्वारकापुरी में आया। अब मणिके तेजसे सत्राजितका शरीर तो दिखाई देता नहीं था। दूरसे मणिकी चमकती हुई किरणें ही दिखाई दीं। द्वारकापुरी निवासी लोग देखकर आश्चर्य में रह गये, यह इतना

तेजस्वी पुरुष कौन आ रहा है। पुरुष तो दीखता ही नहीं केवल तेजका पुञ्ज ही आता हुआ दिखाई देता है।"

किसीने अपनी प्रतिभा जताते हुए कहा—"अरे, तुम लोग इतना भी नहीं जानते, किरणों से भी नहीं पहिचानते, ये तो भगवान् मरीचिमाली सूर्यदेव हैं। चारों ओर इनकी किरणें छिटक रही हैं।"

लोग तो उस सूर्यके समान देदीप्यमान प्रचण्ड तेज पुञ्जको देखकर विस्मित हो ही रहे थे, उनकी आँखों के सम्मुख चकाचौंध छाया हुआ था। उस बुद्धिमान पुरुषकी बातें सुनकर सब शंका करने लगे—"सूर्यदेव तो आकाशचारी हैं, पृथिवी पर क्यों आने लगे? वे तो अपने रथमें चढ़कर त्रिभुवन को प्रकाश प्रदान करने के निमित्त घूमते हैं। वे यहाँ इस प्रकार पैदल क्यों आवेंगे?"

इसपर उसी बुद्धिमान पुरुषने कहा—"देखो, भाई, सूर्य एक देवता भी तो हैं। उनका एक मूर्तिमान् स्वरूप भी है। यद्यपि वे यों साधारण रूपसे पृथिवी पर विचरण नहीं करते, किन्तु कभी कभी इच्छानुसार रूप रखकर वे आते भी हैं फिर द्वारका में आना कौन सी आश्चर्यकी बात है। आज यदुकुल में समस्त देवताओंके भी आराध्यदेव कमल नयन, शंख चक्रधारी, वनमाली गूढ़रूप से निवास कर रहे हैं। त्रिलोकी में बड़े बड़े देव श्रेष्ठ उनके मार्ग को निरन्तर खोजते रहते हैं किन्तु कोई विरले ही उसे प्राप्तकर सकते हैं। सूर्यदेव तो सब कर्मों के साक्षी हैं। उन्हें विदित हो गया होगा, कि सर्वेश्वर द्वारका में यदुवंश में छिपे हुए हैं। इसीलिये उनके दर्शन करने ये आ रहे होंगे?"

सबने उसकी ऐसी युक्ति युक्त बात को मान लिया और सब बड़ी उत्सुकतासे बोले—"यदि यही बात है, तो हम सब प्रथम चलकर भगवान् को ही इसकी सूचना दे दें।"

इस बात का सबने समर्थन किया। उन सबके लिये यह एक अत्यन्त ही कुतूहल की बात थी। वे दौड़े दौड़े भगवान के समीप गये। उस समय भगवान् अन्तःपुर में अपनी प्रिया के साथ चौसर खेल रहे थे। सब लोग द्वारपालों के रोकने पर भी बड़ी उत्सुकता से दौड़े हुए चले गये और भगवान के द्वार पर ही खड़े हो कर हाँपते हुए कहने लगे—"हे देव! हे जगत्पते! हे अशरण शरण! हे दामोदर! हे शंख चक्र गदाधर! हे नारायण! हे दामोदर! हे कमल-नयन! हे गोविन्द! हे यदुनन्दन! आपके पुनीत पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम है।"

भगवान् बड़े चक्कर मे पड़े। क्या हो गया, इन लोगों पर क्या आपत्ति विपत्ति आ गई। ये सब क्यों हाँप रहे हैं? क्यों मुझे इतने नामों से सम्बोधित कर रहे हैं। यही सब सोचकर चौसर खेलना छोड़कर बाहर आये और हँसते हुए बोले—"कहो. भाई! क्या बात है। तुम सब लोग इतने विस्मित क्यों हो? द्वारका में कोई नई घटना घटित हो गई क्या?"

लोगों ने कहा—"भगवन्! आप तो सर्वज्ञ है. सर्ववेत्ता हैं, सर्वेश्वर हैं आपके लिये तो कुछ भी असम्भव नहीं. कोई भी बात आश्चर्यजनक नहीं, किन्तु हमारे लिये तो आज यह नई बात है।"

भगवान् ने कहा—"क्या नई बात है, बताओ भी तो सही।"

लोगों ने कहा—"भगवन्! प्रचण्ड रश्मि भगवान भुवन भास्कर अपने किरणजाल से द्वारकावासी नर-नारियों के नेत्रों को चकाचौंध करते हुए आपके दर्शनों के लिये आ रहे हैं। क्यों न आवें आप तो सभी देवों के पूजनीय हैं। हम इसी बात की सूचना देने दौड़ आये हैं।"

भगवान ने हँसकर कहा—"कहाँ हैं सूर्यदेव?"

लोगों ने हाथों के संकेत से सम्मुख आते हुए सत्राजित को दिखा दिया। देखकर भगवान् खिलखिलाकर हँस पड़े और

बोले—"तुम लोग पड़े पगले हो रे अरे, कहीं सूर्यनारायण इस प्रकार पृथिवी पर आते हैं।"

लोगों ने कहा—"महाराज! ये सूर्यनारायण नहीं तो कौन हैं? तेज तो सूर्य के ही समान हैं।"

सर्वज्ञ भगवान ने कहा—"भैया! यह सत्राजित् है। इसने सूर्यदेव की बहुत दिनों तक उपासना की है। उन्होंने प्रसन्न होकर इसे यह दिव्य मणि दी है। उसको कंठ में पहिनकर यह आ रहा है। उसी के तेज में यह छिप गया है। ये सूर्यदेव नहीं मणि से देदीप्यमान सत्राजित् हैं।"

यह सुनकर लोगों का कुतूहल शान्त हो गया वे सब अपने अपने घर चले गये। भगवान भी पुनः प्रिया के साथ चौसर खेलने में निमग्न हो गये।

इधर सत्राजित् ने घर में आकर बड़ा भारी उत्सव मनाया। मणि के लिये एक सुवर्ण का मंदिर बनवाया। सुवर्ण के सिंहासन पर ब्राह्मणों द्वारा उसकी बड़ी धूमधाम से प्रतिष्ठा करायी।

भगवान ने देखा, यह मणि तो बड़ी अद्भुत है, नित्य आठ भार सुवर्ण देती है। इस सत्राजित् के कोई पुत्र भी नहीं इसके पास तो मणि का दुरुपयोग ही है यदि यह महाराज उग्रसेन को इसको भेंट कर दे, तो इसकी पूजा प्रतिष्ठा भी भली प्रकार से हो सकेगी और यह सुवर्ण भी दान धर्मादि शुभ कार्यों में व्यय होगा।"

यही सब सोचकर भगवान ने एक दिन सत्राजित् को बुलवाया और उससे इधर उधर की कुछ बातें करके बोले—"क्योंजी, सत्राजित्जी हम आपसे एक बात कहेंगे, मानोगे?"

सत्राजित् ने शंकित चित्त से कहा—"हाँ, महाराज! आज्ञा कीजिये। आपकी आज्ञा को भला कौन टाल सकता है?"

भगवान् ने कहा—"नहीं, टालने की बात नहीं मेरी कोई

आज्ञा नहीं है। मैं तो केवल सम्मति के रूप में कहता हूँ। यह जो तुम्हारे पास सूर्यप्रदत्त मणि है, तुम्हारे यहाँ तो इसका विशेष उपयोग है नहीं। यह महाराज उग्रसेन की देख रेख मे भली प्रकार पूजित और प्रतिष्ठित होकर रहे, तो तुम्हे इसमें कोई आपत्ति तो न होगी। आपके समस्त भरण पोषण दान धर्मादि का भार राज्य पर रहेगा। आप चाहें जितना व्यय करें चाहे जितना दान पुण्य करें।"

सत्राजित् तो बड़ा अर्थलोलुप था। लोभी से कोई पैसा भी माँगे, तो उसके प्राण सूख जाते हैं, फिर जो मणि नित्य आठ भार सुवर्ण देनेवाली हो, उसे वह कैसे दे सकता था। अतः उसने कहा—"महाराज! मुझे सूर्य ने दी है, मैंने घर मे उसकी प्रतिष्ठा कराई है। मेरा भाई इस बात मे कभी सहमत न होगा। अतः आप क्षमा करें।"

भगवान ने कहा—"अरे, भाई! इसमें आपत्ति की तो कोई बात नहीं। तुम लोगों का समस्त भार तो राज्य ले ही रहा है।"

इतना कहने पर भी उस लोभी ने भगवान की आज्ञा भङ्ग का कैसा भयङ्कर परिणाम होगा, इस पर कुछ भी विचार न करके स्पष्ट कह दिया "यदुनन्दन! आप इस विषय में मुझसे अधिक आग्रह न करें। यह मेरी शक्ति के बाहर की बात है।"

भगवान यह सुनकर चुप हो गये, सत्राजित् उठकर चला गया। बात यहीं समाप्त हो गई। भगवान् के मन में तो कोई लोभ वाली बात थी नहीं। उन्हे मणि की क्या आवश्यकता थी, वैसे ही साधारण रूप से उन्होंने कह दी। उसने मना कर दी तो उन्हें बुरा भी न लगा कुछ समय में बात पुरानी पड़ गई। भगवान् भूल गये, किन्तु उसके मन में खुटका बना रहा। मैंने भगवान् की आज्ञा नहीं मानी वे मेरा कोई अनिष्ट न कर डालें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पापी का हृदय सदा शंकित

रहता है। बड़े लोग स्वभाववश किसी की ओर देखकर हँस जाते हैं किसी को समयानुसार डाट भी देते हैं। वे उस व्यक्ति का भले ही जानते भी न हों, अपने सीधे सादे स्वभाववश उन्होंने ऐसा कर दिया हो, किन्तु क्षुद्र पुरुष उन्हें अपना शत्रु समझने लगते हैं।

छप्पय

सत्राजित् मणि पहिन द्वारका महँ जब आयो।
समुझि सूर्य नर भगे कृष्ण सब भेद बतायो॥
आठ भार नित कनक देहि दुख शोक नसावै।
हरि सोचें मणि दिव्य राज महलनि में आवै॥
माँगी हरि परि नहीं दई, सत्राजित् लोभी परम।
लोभ मोह महँ फसि पुरुष, खोवै सब गुण निज धरम॥

मणिके कारण माधवको मिथ्या कलङ्क

(१०६७)

प्रायः कृष्णेन निहतो मणिग्रीवो वनं गतः।
भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा कर्णे कर्णेऽजपञ्जनाः ॥ *
(श्री भा० १० स्क० ५६ अ० १३ श्लो०)

छप्पय

सत्राजित् लघु बन्धु प्रान सम प्रिय प्रसेनवर।
धारि कंठ मणि चल्यो करन मृगया लै धनु सर॥
वन महँ पहुँच्यो आइ सिंह ने हय सग मार्यो।
लै मणि भाग्यो सिंह रीछ ने ताहि पछार्यो॥
जाम्बवान मणि ग्रहण करि, घुस्यो गुफा महँ मुदित मन।
जब प्रसेन आयो नहीं, सत्राजित् लाग्यो कहन॥

मनुष्य जैसा होता है दूसरों को भी वैसा ही समझता है। युग के प्रभाव से लोगों के मन मलिन हो गये हैं। उनके मन में काम, क्रोध तथा लोभ की भावनायें अधिक बढ़ गई हैं। कोई किसी के धर्मात्मा होने का सत्यवादी होने का, भगवद्भक्त तथा गुणी होने की सच्ची भी प्रशंसा करे तो हमें विश्वास नहीं होता। इसके विपरीत

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! प्रसेन के मारे जाने पर सत्राजित् ने कहीं कहा—"मुझे ऐसा लगता है, कि मेरा भाई स्यमंतक मणि को कंठ में बाँधकर वन में गया था, वहाँ मणि के लोभ से श्रीकृष्ण ने उसे मार डाला। इस पर लोगों में काना फूँसी होने लगी।"

किसी सत्पुरुष की झूठी भी निंदा कोई करे, तो हमें तुरन्त विश्वास हो जाता है। जिनके मन में पाप बसा रहता है, वे सर्वत्र पाप को ही देखते हैं। दो सगे बहिन भाई शुद्ध भाव से एकान्त में हँसी खेल कर रहे हों, तो देखते ही सर्व प्रथम हमारा उन पर निंदित संदेह ही होगा। स्वयं दोषी होने से दूसरों के दोषों पर तुरन्त विश्वास जम जाता है। किसी में कोई दोष हो और उसको कोई कहे तो भी बुरा लगता है। फिर बिना दोष के जो मिथ्या दोषारोपण करते हैं, वह कितना बुरा लगता होगा। किन्तु निन्दा करने वाले स्वार्थियों को इतना अवकाश कहाँ कि वे सत्यासत्य की छान बीन करें, वे तो किसी घटना को देखकर अनुमान लगाते है फिर एक दूसरे से सुनकर कहने लगते हैं, उसी को सत्य मानकर उसका प्रचार करते हैं। यही प्रवाद है। यह अपयश भी किसी पूर्व जन्म कृत दोष के ही कारण प्राप्त होता है।"

सूतजी कहते हैं— "मुनियो! जब भगवान ने सत्राजित् से मणि माँगी, तो फिर सत्राजित ने घर आकर अपने छोटे भाई प्रसेन से सम्मति की। सत्राजित ने कहा—"यदि भैया, तेरी सम्मति हो, तो इस मणि को महाराज उग्रसेन को दे दें। हमें क्या करना है। हमारे भरण पोषण दान पुण्यादि का समस्त भार तो राज्य अपने ऊपर लेता ही है।"

इस पर कुपित होकर प्रसेन ने कहा—"भाई जी! आप कैसी बातें कहते हैं। क्या अपने स्वयमुपार्जित इतनी बहुमूल्य वस्तु ऐसे किसी को दी जाती है। चाहे श्रीकृष्ण कहें चाहे बलराम अथवा स्वयं महाराज उग्रसेन ही क्यों न कहें, हम अपनी मणि को न देंगे।"

सत्राजित् ने कहा—"अच्छी बात है, भाई, जैसी तुम्हारी इच्छा। मैं भी श्रीकृष्ण से मना ही कर आया हूँ।" यह कहकर सत्राजित् चुप हो गया।

अब प्रसेनके मन में भी संदेह हो गया। वह जहाँ भी कहीं जाता वहीं उस मणिको साथ ले जाता। एक बार वह अपने बड़े भाई सत्राजित्की अनुमतिसे उस मणिको कंठ में पहिन कर घोड़े पर चढ़कर बनमें मृगयाके निमित्त गया। वह आखेट करता हुआ दूर निकल गया। संयोगकी बात कि उसे एक बहुत बड़ा बली सिंह दिखाई दिया। पूर्व जन्ममें यह सिंह कलिंग देशके राजाका पुत्र था। एक ब्राह्मण का उसने क्रोध में भरकर अपमान किया। ब्राह्मणने शाप दिया—"जा, तू सिंह हो जा।" तभी से वह उस वनमें सिंह बनकर रहता था। पूर्व जन्ममें प्रसेनसे इसका वैर था। जितनी भी घटनायें होती हैं, इन सबमें पूर्व जन्म के संस्कार विद्यमान रहते हैं। बिना पूर्व जन्मों के सम्बन्ध से न तो प्रेम ही होता है न द्वेष। हम मन से बहुत चाहते हैं उससे प्रेम न करें, किन्तु चित्त बलात् उसकी ओर खिंच जाता है। इसी प्रकार हम नहीं चाहते किसी से शत्रुता करें किन्तु किसी को देखते ही ऐसा क्रोध आ जाता है, कि चित्त चाहता है, इसके प्राण हरण कर लें।

सिंह को देखकर प्रसेन ने उसके पीछे अपना घोड़ा दौड़ाया। सिंहने भी उस पर प्रहार किया। दोनोंमें कुछ देर युद्ध होता रहा, अन्तमें सिंहने घोड़े सहित प्रसेनको मार डाला। प्रसेनको मारकर और उसकी चमकती हुई मणिको लेकर सिंह वहाँ से चल दिया। दैवयोगसे उसी समय रीछोंके राजा चिरजीवी जाम्बवान् अपनी गुहामें से निकलकर इधर उधर घूम रहे थे, उन्होंने गिरि गुहामें जाते हुए सिंहके पास वह दिव्य मणि देखी। ऐसी चमकती हुई मणिको देखकर उनके मन में इच्छा हुई यह तो हमारे बच्चे का बड़ा सुन्दर खिलौना होगा।" यही सोचकर उसने सिंहसे उसे छीननी चाही। सिंहने देनी नहीं चाही। इसी पर दोनोंमें हुआ। बूढ़े जाम्बवान् से भला साधारण सिंह कैसे जीत

था। ऋक्षराजने मृगराजको मार डाला और उस स्यमन्तक मणि को लेकर अपनी दिव्य गुफा में वह घुस गया।

अपनी गुफा में पहुँचकर जाम्बवान ने वह मणि अपने बच्चे को खेलने के लिये दी। बच्चे की धाय उस मणि से छोटे बच्चे को प्रेम पूर्वक खिलाने लगी। उस मणि से बिना प्रकाश के ही ऋक्षराज की गुफा प्रकाशित होती रहती थी।

इधर जब सायंकाल तक प्रसेन नहीं लौटा तो सत्राजित् को बड़ी चिन्ता हुई। दूसरे दिन भी न आया तो वह खोजने को वन में गया किन्तु उसे अपने भाई का कुछ भी पता नहीं लगा। उसे सन्देह तो पहिले से ही था, कि मैंने श्रीकृष्णको माँगने पर मणि नहीं दी है अवश्य ही वे मेरा कुछ अनिष्ट करेंगे। इस घटना से तो उसे पूरा निश्चय हो गया, कि यह सब श्रीकृष्ण की ही करतूत है। लोगों को तो दूसरों की निन्दा सुनने में बड़ा आनन्द आता है। झूठी सहानुभूति प्रकट करते हुए लोग कहने लगे—"सत्राजित् जी! क्या बात है, अभी तक आपके भाई लौट कर नहीं आये।"

सत्राजित् दुखी होकर कहता—"अजी, अब क्या लौटेगा। वह तो किसी ने ऐसे स्थान पर पहुँचा दिया, जहाँसे लौटकर कोई आता नहीं।"

यह सुनकर लोग कहते—"किसी ने उनके प्राण ले लिये; आपकी तो किसीसे शत्रुता भी नहीं। आप लोग किसी का अनिष्ट भी नहीं करते। यथा शक्ति दूसरों की सदा सहायता ही करते रहते हैं।"

सत्राजित् कहता—"अजी, यह धन ऐसी बुरी वस्तु है, कि इसके कारण अच्छे अच्छों का मन डिग जाता है। हमारा तो किसी से बैर भाव नहीं है, किन्तु वह कंठ में मणि पहिनकर गया था। मैंने उससे मना भी किया, भैया, बहुमूल्य वस्तु है, इसे ऐसे

अकेले पहिनकर नहीं जाने।" किन्तु वह माना ही नहीं। उसने कहा—"भाईजी! इस मणिके तेज से मृगों की आँखों के सामने चकाचौंध हो जायगा। इससे मुझे मृगया मे बड़ा सहायता मिलेगी। प्रतीत होता है, कोई टोह में लगा रहा होगा। मृगयाको मणि पहिनकर प्रसेन को जाते देखकर वह भी उसके पीछे पीछे चला गया होगा। प्रसेन अकेला ही घोड़े पर चढ़कर गया था। अरण्य में जाकर किसीने उसे मार दिया और मणि लेकर चला आया। अब वहाँ घोर वन में देखने कौन जाता है।

लोग पूछते—"आपको किसी पर सन्देह भी तो होगा?"

बनावटी गम्भीरता धारण करके वह कहता—"भाई बिना आँखों से देखे, किसीका नाम कैसे लिया जा सकता है। एक दिन श्रीकृष्ण ने मुझे बुलाकर बहुत आग्रह किया था, इस मणि को मुझे दे दो। मैंने मना कर दिया। मैंने तो सोचा भी दे दूँ बलवान से वैर करना उचित नहीं, किन्तु प्रसेन किसी प्रकार भी सहमत नहीं हुआ उसी का यह परिणाम है, कि उसे प्राणोंम भी हाथ धोने पड़े।"

लोग रहस्यमय ढंगसे सिर हिलाकर कहते—"हाँ, यह बात है। भैया! बड़ों की बड़ी ही बातें होती हैं।"

यह बात एक ने दूसरे से दूसरे ने तीसरेसे इस प्रकार द्वारका भर में इसी की फुसफुसाहट होने लगी। लोग हाट में बाट में चौराहों पर खड़े होकर शनैः शनैः गुप चुप इधर उधर देखकर इसी का चर्चा करते। कोई कहता—"आपने कुछ सुना है।" दूसरा उत्सुकता पूर्वक कहता—"नहीं तो हमने तो कुछ सुना नहीं।" तब वह धीरे से कहता—"श्रीकृष्ण ने वन में प्रसेन को मार डाला।" वह पूछता—"श्रीकृष्ण से प्रसेन का क्या वैर था,. तब वह कहता अरे भैया, यह पैसा सब करा लेता है. मणि के लोभ से उसे मार डाला।" इस प्रकार वायु की भाँति यह बात

पूरी द्वारकापुरी में फैल गयी। उद्धवजी ने भी सुना, जिसे देखो वही इसी बात की चर्चा कर रहा है। उन्होंने जाकर भगवान् से से कहा—"प्रभो ! आपकी बड़ी अपकीर्ति हो रही है।"

भगवान् ने कहा—"भाई ! मैंने ऐसा कौनसा बुरा काम किया है, जो लोग मेरी निन्दा कर रहे हैं ?"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज ! उस स्यमंतक मणि को कंठ में पहिन कर सत्राजित् का छोटा भाई प्रसेन कल वन में मृगया के निमित्त गया था। वह अभी तक लौटा नहीं। सब लोग कह रहे हैं वन में जाकर श्रीकृष्ण ने उसे मार दिया और मणि को उससे छीन लाये। सत्राजित् यही कहता है श्रीकृष्ण ने मुझसे माँगी थी, मेरे मना करने पर ही यह सब दुःखद घटना घटित हुई।"

भगवान् ने कहा—"लेना एक न देना दो, उद्धवजी ! यह झूठा कलंक अकारण मेरे सिर पर लग गया। मैंने तो प्रसेन को देखा तक नहीं मारने की तो कौन कहे।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज ! मुझसे क्या कह रहे हैं। मैं क्या जानता नहीं। आपके लिये मणि क्या वस्तु है। आपके संकल्प मात्र से ऐसी असंख्यों मणि आ सकती हैं। किन्तु लोगों का मुख तो पकड़ा नहीं जाता। लोग तो निन्दा प्रिय होते हैं। विशेषकर किसी संभावित पुरुषकी निन्दा होती है, तो उन्हें बड़ा आनन्द आता है।"

भगवान् ने कहा—"तो अब हम क्या करें ?"

उद्धवजी ने कहा—अब महाराज ! आपको जैसे हो तैसे उस मणि का पता लगाना चाहिए, तभी आपका यह कलंक धुल सकता है। नहीं तो लोग सोलहू आने यही विश्वास किये बैठे हैं, कि आपने ही मणि के लोभ से उसे मारा है।"

भगवान् ने कहा—"अच्छी बात है, किन्तु हम अकेले न

जायँगे। अकेले गये और कहीं मणि मिल गई, तो लोग फिर भी यही कहेंगे इनके ही पास थी। बहुत अपयश होते देखकर इन्होंने उसे प्रकट कर दिया।" इस लिये बहुत से नगर वासी प्रसेन के इष्ट मित्र और सम्बन्धियों को लेकर उसे खोजने चलें।"

इस बात का समर्थन उद्धवजी ने भी किया नगर के बड़े बड़े प्रतिष्ठित पुरुषों को बुलाया गया। प्रसेन के बहुत से सगे संबन्धी इष्ट मित्र भी साथ लिये। इन सबको लेकर अपने ऊपर लगे कलंक का परिमाजन करने के निमित्त भगवान प्रसेन को ढूँढ़ने के निमित्त वन में गये। घोड़ों के टापों के चिह्नों के सहारे सहारे वे बहुत दूर तक चले गये वहाँ सघन वन में घोड़े सहित प्रसेन को मरा हुआ देखा। भगवान् ने कहा—"देखो, भाई घोड़े के सहित प्रसेन तो यह मरा पड़ा है। भली प्रकार देख लो यह किसी अस्त्र शस्त्र से नहीं मरा है। ये सिंह के पंजों के नखों के चिह्न इसके शरीर में बने हैं। ये पृथ्वी पर सिंह के पैर स्पष्ट उभरे हुए हैं। प्रतीत होता है, किसी सिंह ने इसे मार डाला है। फिर भी देखो मणि तो इस पर होगी ही।"

सबने उसके वस्त्रों को देखा, इधर उधर देखा मणि वहाँ नहीं थी। तब भगवान् ने कहा—"अच्छा, आगे चलो। संभव है आगे कुछ पता चले।" यह सुनकर सभी सिंह के पैरों के चिह्नों को देखते देखते आगे बढ़े। आगे चलकर गिरि गुहा के द्वार देश पर सिंह मरा हुआ दिखाई दिया। भगवान ने कहा—"निश्चय ही इसी सिंह ने प्रसेन को मारा है, यह मणि ले आया होगा, मणि के लोभ से किसी ने इसे भी मार डाला। पैर तो ये रीछ के से हैं ये बाल भी रीछ के ही हैं। अवश्य ही रीछ के साथ यहाँ इसका युद्ध हुआ है और रीछ ने ही इसे मारा है, वही मणि लेकर कहीं चला गया है। चलो, रीछ का भी पता लगावें।"

यह सुनकर सब लोग रीछ के पैरों के चिन्हों के सहारे सहारे आगे बढ़े आगे उन्हें ऋक्षराज जाम्बवान् की राजधानी (जम्बू नगरी) मिली। वह चारों ओर पर्वतों से घिरी थी, बड़े बड़े वृक्ष इसमें लगे थे। एक बहुत बड़ी अँधेरी गुफा उन्हें दिखाई दी।

भगवान ने कहा—"अवश्य ही मणि लेकर रीछ इस गुफा में घुस गया है। प्रतीत होता है, यह गुफा बहुत भारी है और बहुत दूर तक चली गई है। इसके भीतर घुसना चाहिये।"

प्रसेन के मित्र और सम्बन्धियों ने कहा—"यदुनन्दन! हमारा साहस तो इसके भीतर जाने का होता नहीं। आपके ऊपर जो लोगों ने मिथ्या कलंक लगाया था, वह तो नष्ट हो ही गया। प्रसेन को सिंह ने मारा और सिंह को रीछ ने मारा यह बात तो सिद्ध हो ही गई, अब मणि मिले न मिले इसका उत्तर दायित्व हमारे ऊपर नहीं है। हमारी आपसे भी प्रार्थना है, इस घोर अन्धकार से भरी हुई महा भयङ्कर गुफा में आप भी प्रवेश न करें। चलिये द्वारका लौट चलें।"

भगवान ने कहा—"न भैया, मैं बिना मणि लिये द्वारका लौट कर न जाऊँगा। आप सब लोग यहीं द्वार पर रहें, मेरी प्रतीक्षा करें, मैं भीतर जाता हूँ।"

सबकी सम्मति तो नहीं थी, किन्तु भगवान की आज्ञा को उल्लंघन करने की सामर्थ्य किस में थी, सब लोग द्वार पर ही रह गये और अकेले पीताम्बर धारी वनमाली ने फेंट बाँधकर उस गुफा में प्रवेश किया। बाहर द्वारकापुर वासी लोग बैठे-बैठे प्रतीक्षा करते रहे। जब बारह दिनों तक प्रतीक्षा करने के अनन्तर भी भगवान गुफा में से न निकले तो सब लोग डर गये वे सोचने लगे—"जिस जीव ने इतने बली श्रीकृष्णचन्द्र को भी युद्ध में मार डाला, वह जाने कितना बली होगा, ऐसा न हो, वह निकलकर हम सबको भी मार डाले।" ऐसे विचारों के आने से वे सब लोग डर गये। उनके

पास भोजन की सामग्री भी नहीं रही थी, और भगवान् की ऐसी इच्छा ही थी, वे सबके सब लोग लौटकर द्वारकापुरीमें आगये। भगवान् को न आया हुआ देखकर, वसुदेवजी, देवकीजी, बलरामजी, रुक्मिणी तथा अन्यान्य सभी बन्धुबान्धव सुहृद्‌गण दुखी हुए। सभी सत्राजित्‌को बुरा भला कहने लगे, कि इसी के झूठे कलंक लगानेसे यह सब घटना घटित हुई। सभी लोग महामाया दुर्गा-देवीकी आराधना करने लगे और भगवान्‌के सकुशल लौटने के निमित्त जप, तप देवाराधनादि साधन करने लगे।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान गुफा से क्यों नहीं निकले क्या करते रहे?"

सूतजी बोले—"अजी, महाराज भगवान्‌का आज कल और काम ही क्या था, उन्हें विवाह करने की धुन सवार थी। गुहा में बैठे बैठे विवाह की साँठ गाँठ लगाते रहे। उस अंधेरी गुफामें भी जैसे उन्होंने एक अत्यन्त सुन्दरी वहू प्राप्त की उस प्रसङ्ग को मैं आगे सुनाऊँगा। इसे आप समाहित चित्तसे श्रवण करनेकी कृपा करें।

छप्पय

हरि माँगी मणि नहीं दई भाई मम मारयो।
घर घर फैली बात श्याम मन माहिँ विचारयो॥
मिथ्या लग्यो कलङ्क करूँ हौं मार्जन अबहीं।
संग लिये बहु लोग चले मणि खोजन सबहीं॥
लख प्रसेन निरख्यो मृतक, पुनि खोजत आगे गये।
मरयो सिंह लखि पुनि गुहा, देखि रीछ की धुसि गये॥

जाम्बवतीके साथ भगवान्का विवाह

(१०६८)

उपलभ्य हृषीकेशं मृतं पुनरिवागतम् ।
सह पत्न्या मणिग्रीवं सर्वे जातमहोत्सवाः ॥⊛

(श्री भा० १० स्क० ५६ अ० ३७ श्लो०)

छप्पय

अट्ठाइस दिन लड़यो रीछ परि हरि नहिँ हारे।
निज स्वामी रघुनाथ समुझि पुनि पैर पखारे॥
कन्या दई विवाहि जाम्बवति लै हरि निकसे।
बारह दिन लखि बाट श्यामके साथी खिसके॥
दुखित द्वारका महँ सकल, मिलि दुर्गा पूजन करहिँ।
जोहत प्रभुकी बाट नित, सत्राजित् कूँ सब शपहिँ॥

भक्त भगवान् को भले ही भूल जाय किन्तु न तो भगवान् भक्तको भूलते हैं और न उसके साथकी हुई प्रतिज्ञाको भूलते हैं। भूलना जीव का स्वभाव है, सदा स्मरण रखना यह भगवान् का स्वभाव है। भगवान जो भी करते हैं, जीवको स्मरण करानेके ही निमित्त करते हैं। जो भगवान्की मार सहकर उन्हें पहिचान जाते

⊛ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! द्वारकावासी नर नारी नई बहूके साथ कंठमें मणि पहिने हुए भगवान्को आते देखकर उसी प्रकार अत्यन्त हर्षित हुए जिस प्रकार किसी मृतक पुरुषको पुनः आया हुआ देखकर प्रसन्न होते हैं।"

हैं, वे तो उत्तम भक्त हैं, जो उनकी मार खा कर भी नहीं समझते वे तो साधारण कोटि के हैं। भगवान् को पहिचानकर जो अपना सर्वस्व उन्हें समर्पित कर देता है, वह सहज में इस संसार सागरसे सदा के लिये पार हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! मणि के लिये भगवान् जाम्बवान के बिल में घुस गये। वहाँ आकर उन्होंने देखा, जो मणि आठ भार नित्य सुवर्ण दिया करती थी, वही आज रीछ के बिल में आकर केवल बालक का खिलौना मात्र बनी हुई है। बालक उस मणि को लिये हुए खेल रहा है। भगवान तो चोरी की विद्या में निपुण हो हैं। व्रज में रहकर कुछ पढ़ा लिखा तो था नहीं, वहीं चोरी जारी की थी, इसलिये चोरों की भाँति चुपके चुपके गये। उस लड़के पर मणि को देखकर समझ तो गये, कि यह वही स्यमन्तक मणि है किन्तु इसका पूर्ण निश्चय करनेके लिये वे कुछ काल छिपे खड़े रहे। लड़के की दृष्टि उन पर पड़ी उन्हे देखकर वह रोने लगा। उस बच्चे की धाय ने समझा बच्चा वैसे ही रो रहा है। अतः वह दौड़कर बच्चे के पास आई और उसे गोद में लेकर प्यार से इस श्लोक को पढ़ने लगी—

सिंहः प्रसेनमवधीत्सिंहो जाम्बवता हतः।
सुकुमार मा रोदीस्तव ह्येष स्यमन्तकः॥

अर्थात् हे मेरे प्यारे बच्चे ! देख, प्रसेनको सिंहने मारा सिंह को तेरे पिता जाम्बवान् ने मारा उससे छीनकर वे इस मणि को तेरे लिये लाये हैं। अब यह मणि निश्चय ही तेरी है, तू रोवे मत।"

इस बात को सुनकर भगवान् को निश्चय हो गया कि यह वही मणि है। इसलिये अब वे छिपे नहीं रहे। ज्यों ही आगे बढ़कर उन्होंने लड़के के हाथ से उस मणि को छीनना चाहा,

त्यों ही उस लड़के की धाय डर गयी। उसने ऐसा पुरुष पहिले कभी नहीं देखा था, भगवान् सहसा प्रकट हो गये अतः वह अत्यन्त भयभीत होकर बड़े वेग से चीख उठी। उसकी चीख को सुनकर समीप की कोठरीमें पड़ा हुआ जाम्बवान् तुरन्त वहाँ दौड़ कर आ गया। आते ही उसने पीताम्बर ओढ़े एक विचित्र पुरुष को देखा। समीप ही लड़का और धाय भयभीत होकर रुदन कर रहे हैं। आते ही वह अत्यंत कुपित हुआ। क्रोधमें विवेक नष्ट हो जाता है। विचारने की शक्ति नहीं रहती। इसीलिये महाबुद्धिमान् जाम्बवान् ने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को साधारण प्राकृत पुरुष ही समझा। उसे अपने बल का बड़ा अभिमान था। वह सोचता था, संसार में मेरे समान बली कोई दूसरा है ही नहीं। इसीलिये इस पुरुष के ऐसे साहस को देखकर उसे अत्यन्त क्रोध आ गया। भगवान् के प्रभाव को भूलकर वह उनसे लड़ने लगा। भगवान् तो फेंट बाँधकर लड़ने को तैयार ही थे। अतः वे भी भिड़ गये अब होने लगी दोनों ओर से चटापट चटापट। वह भगवान् के घूँसा मारता, तो भगवान भी उसके मुक्का जमा देते। वह उन्हें दाँतों से काटता तो भगवान् उसके बालों को पकड़ कर खींच देते। जाम्बवान् गुफा में से वृक्षों को उखाड़कर मारता तो भगवान् बीच में ही उसके टुकड़े टुकड़े कर देते। वह पत्थर फेंकता और भी अपने अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग करता, किन्तु भगवान् के सम्मुख उसकी एक भी नहीं चलती थी। जैसे गौ के लिये दो साँड़ लड़ते हैं, जैसे मांस के टुकड़े के लिये दो श्येन पक्षी लड़ते हैं, वैसे ही उन दोनों का निरन्तर युद्ध होता रहा। दोनों ही बली थे, दोनों ही अस्त्र शस्त्रों में निपुण थे, दोनों ही विजय के अभिलाषी थे, दोनों ही एक दूसरे के प्रहार को बचाकर प्रहार करना चाहते थे।

इस प्रकार दोनोंमें अट्ठाईस दिनों तक निरंतर रात्रि दिन युद्ध

जाम्बवान् ने कहा—"भगवन् ! भला आपसे कौन जीत सकता है ? लंका विजय के समय मैंने आपका पुरुषार्थ देखा था। समुद्र आपको मार्ग नहीं दे रहा था, उसे आपने किञ्चित् कोप-कटाक्ष से निहारा ही भर था, कि उसका जल खौलने लगा। उसी से मत्स्य, मकर कच्छप, सर्प तथा तिमिङ्गिलादि समस्त जल जन्तु क्षुब्ध हो गये। आपके बाण उठाते ही समुद्र सशरीर आपके सम्मुख समुपस्थित हो गया और उसने आपको लंका जाने का उपाय बता दिया। आपने भी समुद्र के कहने से उस पर सेतु बाँधा वह सेतु आपके यश का क्षुद्र प्रतीक मात्र है। आपने अपने भीषण बाणों की वर्षा से लंकापुरी को विध्वंस कर डाला और राक्षसों के शिरों को काट काटकर उसका पर्वत-सा बना दिया, वे ही रावणादि राक्षसकुलसंहारी विभीषण को शरण देने वाले राघवेन्द्र आप हैं।"

भगवान ने जब देखा कि उसने तो मुझे पहिचान लिया, तो वे हँस पड़े और कृपा भरी दृष्टि से ऋक्षराज की ओर देखते हुए अपने कल्याणकारी कर कमल से उनके अंगों का स्पर्श किया। भगवान के स्पर्श करते ही ऋक्षराज की सम्पूर्ण पीड़ा नाश हो गयी। वे पहिले की भाँति स्वस्थ और वेदना रहित बन गये। तब भगवान देवकीनन्दन अत्यन्त ही कृपा प्रदर्शित करते हुए अपने परम भक्त जाम्बवानजी से कहने लगे—"ऋक्षराज ! देखो हमारे ऊपर मिथ्या कलंक लग गया है। लोग हमारे ऊपर इस स्यमन्तक मणि की चोरी लगा रहे हैं। इसी को खोजते खोजते हम तुम्हारी इस गुफा में तुम्हारे ऊपर कृपा करने आये हैं।

यह सुनकर शौनक जी बोले—"सूतजी ! जब भगवान जानते थे, कि यह मेरा भक्त ऋक्षराज है, तो उसे अज्ञान में क्यों रखा, क्यों उसके साथ अट्ठाईस दिनों तक युद्ध किया। यह भगवान की कृपा क्या हुई ?"

सूतजीने कहा—"शौनकजी ! भगवान् जो भी करते हैं, भक्तों की इच्छापूर्तिके लिये हो करते हैं, भगवद्भक्त के मनमें जो भी संकल्प उठता है भगवान् उसे किसी न किसी रूपमें अवश्य पूरा करते हैं। देखिये, सूर्पणखाकी इच्छा भगवान्को देखकर उनके साथ क्रोड़ा करने की हुई तो कुब्जारूप में उसकी इच्छा-पूर्ति की। दंडकारण्य के ऋषि मुनि कमलनयन भगवान् राघवेन्द्रु के रूपको देखकर मुग्ध हो गये। उनके साथ रमण करनेका उनके मनमें तनिक-सा संकल्प हुआ, भगवानने उन्हें गोपी रूप देकर उनकी इच्छापूर्ति की। भगवद्भक्तोंके हृदयमें प्रथम तो कोई कामना उठती नहीं। वे भगवान्के भजनसे ही तृप्त बने रहते हैं। कदाचित् कोई इच्छा उठ भी जाय, तो उसे भगवान् किसी न किसी रूपमें अवश्य पूर्ण करते हैं। जैसे भगवान् स्वयं सत्यसंकल्प हैं वैसे ही वे भक्तों को भी सत्यसंकल्प बना देते हैं। एक बार भगवान् की इच्छा चाहे पूरी न भी हो' भक्त की इच्छा वे अवश्य ही पूरी कर देते हैं।

ये जाम्बवान् चिरजीवी हैं। जब भगवान् वामनने बलिका सर्वस्व हरण करके उसे पाताल पठाया था, तब ये युवावस्थापन्न थे। दो घड़ीमें सात बार इन्होंने ब्रह्माण्डकी परिक्रमा करली थी। इनके बराबर शीघ्र चलनेवाले गरुड़जी भी नहीं थे। श्रीरामचन्द्रावतारमें ये बूढ़े हो गये थे। फिर भी इनके समान बुद्धिमान और बलवान न कोई वानर था न रीछ। लंकाविजयमें भगवान्के ये ही प्रधानमन्त्री थे। ये जैसी सम्मति देते वैसा ही किया जाता। इनके ही बुद्धिबल से लंका पर विजय प्राप्त की गई। भगवान्ने अन्तमें प्रसन्न होकर सबको इच्छानुसार वर दिये। इनसे भी पूछा गया—"आप क्या वर माँगना चाहते हैं ?"

इन्होंने कहा—"यहाँ लंकाविजयमें मेरी बुद्धिका तो कुछ कुछ उपयोग हुआ, किन्तु मेरे बलका कुछ भी उपयोग न हुआ। अतः मैं युद्ध करना चाहता हूँ। युद्धसे मेरी तृप्ति नहीं हुई।" भगवान् ने हँसकर कहा—"तुमसे युद्ध करेगा कौन ? संसारमें तुम्हारे समान बली कोई दूसरा है ही नहीं। हाँ मैं ही तुमसे युद्ध करके तुम्हें युद्धमें सन्तुष्ट कर सकता हूँ।"

जाम्बवान ने हाथ जोड़कर कहा—"अजी, महाराज ! आप तो मेरे स्वामी हैं, आपसे भला मैं कैसे युद्ध कर सकता हूँ"

भगवान् हँसकर बोले—"स्वामी और सेवकका भी तो युद्ध होता है। इस अवतारमें नहीं अगले अवतारमें हम तुम्हारी इच्छापूर्ति करेंगे। जानकर तो तुम हमसे लड़ोगे नहीं, अतः तुम्हें हम विस्मृति दे देंगे, जिससे तुम हमें भूलकर हमसे युद्ध करो। जब तुम युद्ध से सन्तुष्ट हो जाओगे, तो फिर तुम्हें हमारी स्मृति हो आवेगी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो यह कारण है जो जाम्बवान जैसे परम भगवत् भक्त भगवान को पहिचान न सके। भगवान अपने भक्तोंको कभी अज्ञान भी देते हैं, तो उनकी किसी जन्मकी किसी इच्छा को ही पूर्ण करने के निमित्त हैं। नारदजीने भगवानको भूलकर उन्हें शाप दे डाला। ये तो सब भगवान की लीलायें हैं। अपने भक्तोंके साथ विचित्र विचित्र क्रीड़ायें करते रहते हैं। जो एक बार भगवान्की शरणमें आ गया, वह सदाके लिये कभी भी भगवानको भूल नहीं सकता। अट्ठाईस दिन दिन-रात्रि युद्ध करके भगवान् ने जाम्बवान्जी की युद्धकी इच्छाको पूर्ण किया। जब वे श्रांत हो गये, हार गये तब भगवान्ने उनके अज्ञान को हर लिया अपना यथार्थ रूप दिखा दिया। हारे को हरिका ही सहारा है।"

शौनकजीने कहा—"हाँ, सूतजी ! भगवान् बड़े कृपालु हैं। अपने भक्तोंकी समस्त कामनाओं को पूर्ण करते हैं, तभी तो उन्हें

भक्त वाञ्छा कल्पतरु कहा गया है। अच्छा फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! हुआ क्या फिर भगवान् और भक्तों के मिलने पर जो कुछ होता है, वही सब हुआ। जाम्बवान् जी ने परम प्रसन्न होकर विधिवत् भगवान की पूजा की, उन्हें अर्घ्य

प्रदान किया। अर्घ्य के समय कोई फल तथा रत्नादि भेंट किया जाता है। जाम्बवान्जी के एक अत्यन्त ही सुन्दरी कन्या थी, उस कन्या रत्न को अर्घ्य के साथ उन्होंने भगवान् को अर्पण कर दिया। वह जो स्यमन्तक मणि थी, वह दहेज में दे दी।" हाथ जोड़कर

उन्होंने कहा—"प्रभो! आपने बड़ी कृपा की जो दास को दर्शन देकर अपनी पदधूलि से मेरे घर को पावन बना दिया और मुझे सपरिवार कृत कृत्य कर दिया। मेरी यह परम सुशीला, गुणवती कन्या है इसे आप पत्नी रूप में ग्रहण कर लें और इस मणि को भी आप ले जायँ।"

भगवान ने ऊपर के मन से कहा—"अरे, भाई! विवाह तो हमारा हो गया है। पत्नी तो हमारे घर में हैं किन्तु अब क्या करें, तुम श्रद्धापूर्वक दे रहे हो जो कोई श्रद्धापूर्वक दी हुई किसी की वस्तु को ग्रहण नहीं करता, उसका अन्त में अपयश होता है। इसलिये भाई, क्या करें किन्तु अब जब तुम दे ही रहे हो, तो कोई बात नहीं। अच्छी बात है यह भी पड़ी रहेगी। यहाँ आपके पास कुशा नारियल तो कहाँ होगा, पंडित पुरोहित भी कहाँ खोजते फिरोगे, दे दो इसे हम ले जायँ, द्वारका में आकर सब नेग जोग कर लेंगे।"

यह कहकर भगवान् ने पत्नी रूप में जाम्बवती को ग्रहण कर लिया। उसे लेकर वे बिल से बाहर निकले।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हमें कुछ शंकायें रह गईं? यदि आप हमें अश्रद्धालु न समझें तो पूछें।"

सूतजी बोले—"नहीं महाराज! अश्रद्धालु समझने की कौन सी बात है, जो शङ्का उठे उसे पूछना चाहिये।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! प्रथम शंका तो हमें यह है कि ये जाम्बवान् इतने बूढ़े थे, प्रथम सत्ययुग के थे, फिर भी यहाँ इनके एक इतना बड़ा छोटा सा बच्चा था जो मणि से खेलता था, पंद्रह सोलह वर्ष की लड़की भी होगी। तो सत्ययुग से अब तक न जाने कितने बच्चे इनके हो गये होंगे? दूसरी बात यह कि ये तो रीछ थे, भगवान् ने रीछ की लड़की से कैसे विवाह किया

भगवान् भी रीछ बन गये थे क्या, अथवा इसे ही मानवी स्त्री बनाया।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"अजी, महाराज! ये ऐसे साधारण जंगली रीछ थोड़े ही थे। ये तो एक प्रकार के उपदेव थे। ब्रह्माजी के पुत्र थे। ये इच्छानुसार जब चाहें तब वैसा रूप बना सकते थे। जैसे जटायु सम्पाति ये गृद्ध थे, किन्तु जब चाहते तभी मनुष्य रूप रख सकते थे, जटायु ने बताया था, मैं महाराज दशरथ का मित्र हूँ। इसी प्रकार ये जाम्बवान् चिरजीवी उपदेव हैं। ये स्वर्ग में, ब्रह्मलोक तक में जा सकते थे। ये रीछों के राजा थे। ये वरदान के प्रभाव से कभी भी वृद्ध नहीं होते थे। जहाँ इन्हें वृद्ध कहा गया है, वहाँ वृद्ध कहने से इतना ही अभिप्राय है, कि ये बहुत पुराने थे। जैसे देवता कभी वृद्ध नहीं होते वैसे ये भी कभी बूढ़े नहीं होते थे गुफा में रहकर ये भगवान् के अवतार की प्रतीक्षा कर रहे थे। जब ये वृद्ध ही नहीं तो बच्चा होने में कौन से आश्चर्य की बात है। इनके बल का तो इसी से अनुमान लगा लें, कि बिना खाये पिये बिना विश्राम लिये अट्ठाईस दिनों तक ये भगवान् से लड़ते रहे।

इनकी जो यह लड़की थी, जाम्बवती, वह भी दिव्य स्त्री थी रामावतार में भी यह थी। भगवान के रूप को देखकर यह विमोहित हो गई थी। इसके अभिप्राय को जानकर जाम्बवान् ने इसे भगवान् को देना चाहा। तब भगवान ने कहा - "देखो, भाई! इस अवतार में तो मैंने एक पत्नी व्रत ले रखा है। अतः इसे अब तो मैं स्वीकार करूँगा नहीं। हाँ अगले अवतार में मैं इसके साथ विवाह करके इसकी इच्छा अवश्य पूरी करूँगा।" तभी से यह भगवान् की प्राप्ति के लिये घोर तपस्या करती रही। इसने मानवी स्त्री का रूप धारण किया था और उसी रूप से जाम्बवान् ने भगवान् को इसे समर्पित किया।

शौनकजी ने कहा—"हाँ सत्य है सूतजी! इनकी संज्ञा ही ऋक्ष थी। वैसे तो ये उपदेव थे। अच्छा फिर क्या हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! जाम्बवती को लेकर और उस स्यमन्तक मणि को कंठ में पहिनकर भगवान् गुफा के बाहर आये। वहाँ देखा, भगवान के दो चार विश्वसनीय सेवकों को छोड़कर कोई भी नगर निवासी पुरुष वहाँ नहीं था। भगवान् उन लोगों को लेकर द्वारका की ओर चल दिये।

इधर द्वारका में भगवान के न लौटने से बड़ी चिन्ता छाई हुई थी। सब लोग महामाया दुर्गादेवी की आराधना में संलग्न थे। सभी देवी से यही मनौती मना रहे थे। 'हे जगज्जननी! हे भगवति! हे यशोदागर्भसंभवा! भगवान् श्रीकृष्ण पुनः सकुशल लौटकर द्वारकापुरी में आ जायँ।"

बहुत से लोग सत्राजित् को बुरा भला कह रहे थे। कोई कोई कहता—"जैसे इसका भाई प्रसेन मर गया है, भगवान् करें यह भी वैसे ही मर जाय। इसी के कारण भगवान् को कलंक लगा और वे भयङ्कर बिल में घुसे।" कोई कहता—"अरे, भगवान् का कोई क्या बिगाड़ सकता है, वे जो चाहें सो कर सकते हैं। वे तो विश्व की रक्षा करने वाले हैं।" कोई देवी के सामने जप, तप, पूजा पाठ कर रहे थे।

उन सबकी उपासना से प्रसन्न होकर दुर्गा देवी ने सबको इच्छित वर की प्राप्ति का शुभाशीर्वाद दिया। जिस समय देवीजी ने भगवान् के सकुशल लौटने का वर दिया, उसी समय लोगों ने देखा नूतन जलधरों की आभा के समान आभावाले पीताम्बरधारी वनमाली कंठ में स्यमन्तक मणि पहिने और नववधू जाम्बवती को साथ लिये हुए आ रहे हैं। भगवान् को देखकर सबको उसी प्रकार प्रसन्नता हुई जैसे प्यासे को अमृत मिलने पर, मृतक

पुरुष के पुनः जीवित होकर लौटने पर प्रिय घर वालों को प्रसन्नता हो सकती है। सबने देखा भगवान् एक से दो होकर लौटकर आ रहे हैं तब तो सबके हर्ष का ठिकाना ही नहीं रहा सब बड़े प्रेम से मिले भेंटे। नई बहू का अन्तःपुर में बड़ा स्वागत सत्कार किया। भगवान् ने सबको एकत्रित कर उस मणि का सब वृत्तान्त सुना दिया और सबके सम्मुख सत्राजित् को वह लौटा दी। सत्राजित् पर तो मानों सहस्रों घड़ा पानी पड़ गया हो। लज्जा के कारण उसका सिर ऊपर नहीं उठता था। वह मणि को लेना नहीं चाहता था, किन्तु सबके सम्मुख उसे कहने का साहस भी न हुआ। वह अत्यन्त खिन्न मन से उदास होकर मणि को लेकर घर लौट आया। सब लोग उसे धिक्कार दे रहे थे, उसका हृदय भी उसे कोंच रहा था। उसे आत्मग्लानि हो रही थी, मैंने सर्वेश्वर पर ऐसा व्यर्थ सन्देह क्यों किया? क्यों उन पर मिथ्या कलंक लगाया। कैसे मैं उनको प्रसन्न कर सकूँ, इसी चिन्ता में वह डूबा रहता था।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने जाम्बवती के साथ भी विधि विधान पूर्वक विवाह कर लिया। इस प्रकार भगवान् के दो विवाह तो हो गये अब आप लोग उनके तीसरे विवाह के भी शुभ वृत्तान्त को श्रवण करें।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! उस बिचारे सत्राजित् की तो बड़ी अपकीर्ति हुई होगी वह लोगों के सम्मुख कैसे निकलता होगा, कृपा करके पहिले हमें उस सत्राजित् का ही वृत्तान्त सुनावें तदनन्तर भगवान् के तीसरे विवाह की कथा कहें।"

सूतजी ने कहा—"भगवान् का तीसरा विवाह इन्हीं सत्राजित् की लड़की के साथ तो हुआ इसमें दोनों ही कथायें आ जायँगी आप इसे सुनिये तो सही।"

छप्पय

जाम्बवती सँग श्याम निरखि सब लोग सिहाये।
पुरवासी मों मुदित मृतक जनु घर फिरि आये॥
मणि को सुनि सब वृत्त भयो दुःखित सत्राजित।
हरि मणि सादर दई लई तानें ह्वै लज्जित॥
सोचत सत्राजित् सतत, यह अपयश कैसे सहूँ।
होहि तोष यदि मणि सहित, सतभामा हरि कूँ दऊँ॥

सत्यभामाजीके साथ भगवान्‌का विवाह

[१०६६]

तां सत्यभामां भगवानुपयेमे यथाविधि ।
बहुभिर्याचितां शीलरूपौदार्य गुणान्विताम् ॥ ❀
(श्री भा० १० स्क० ५६ अ० ४४ श्लो०)

छप्पय

शतधन्वा सँग करी सगाई सतभामा की।
तऊ कृष्ण कूँ दई न चिन्ता कीन्हीं ताकी ॥
दीन ब्याह करि गये बन्धु देखन हथिनापुर।
कुन्ती पांडव जरे सुनत पहुँचे तहँ सत्वर ॥
जानत सब घनश्याम परि, लोक दिखावो करत हैं।
नर क्रीडा करि सबनि के, चंचल चित कूँ हरत हैं ॥

कलह कामिनी और कांचन के ही कारण हुआ करती है। कांचन में भूमि, धन, अन्न तथा अन्य सभी जीवनोपयोगी वस्तुओं का समावेश है। एक वस्तु को दो चाहते हैं, दोनों उस पर अपना स्वत्व समझते हैं, इसी पर विवाद होता है, मार पीट होती है और प्राणों तक की नौबत आ जाती है। जहाँ धन होगा,

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने उस सत्यभामा से विवाह किया, जो शील रूप और उदारतादि गुणों से युक्त थी तथा जिसे बहुत से क्षत्रियों ने सत्राजित् से माँगा था।"

सुन्दरी स्त्री होगी वहाँ मनो मालिन्य, कलह, मार पीट अवश्य होगी। प्राचीन अर्वाचीन सभी इतिहासों में युद्ध के ही कारण मिलेंगे। हम जिस वस्तु को चाहते हैं, उसे यदि कोई दूसरा ले जाता है, तो हमारे मन में ईर्ष्या होती है। शक्ति होने पर हम उससे उस वस्तु को छीनने का प्रयत्न करते हैं शक्ति न रहने पर उसका कुछ न कुछ अनिष्ट करने की बात सोचते हैं। किसी को कुछ देने को कह दो और फिर उसे न दो, तो वह शत्रु हो जाता है। ब्राह्मण को भोजन के लिये निमंत्रित कर दो और फिर उसे भोजन न कराओ तो वह शत्रु के समान आचरण करने लगेगा। शापा शापी होगी कलह होगी। इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है, न तो किसी के धन पर मन चलाना चाहिये न किसी की वस्तु को अन्याय से लेने का ही प्रयत्न करना चाहिए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने महाराज उग्रसेन तथा सबके सामने सभा में स्यमन्तक मणि सत्राजित् को लौटा दी। अब वह अपने अपराध के लिए अत्यन्त ही पश्चाताप करने लगा। उसने सोचा—"देखो, मैंने बिना समझे बूझे श्रीकृष्ण को कलंक लगा दिया। अब वे अपने मन में क्या सोचते होंगे। उनका सोचना उचित ही है, दूसरे सभी द्वारका वासी मुझे धिक्कार रहे हैं। जो लोग पहिले मेरी बात का समर्थन करते थे, अब वे मुझे बुरा कहते हैं। अब मैं क्या करूँ श्रीकृष्ण का भी मेरी ओर से मन फिर गया होगा। मैंने उनके कई अपराध किये हैं। सर्व प्रथम तो जब उन्होंने मणि माँगी थी, तभी मुझे दे देनी चाहिये थी। उस समय लोभ वश मैंने उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर दिया। फिर उन पर मिथ्या कलंक लगाया। वे मणि को खोजने निकले तब भी मैंने उन्हें रोका नहीं। मेरे कारण ही उन्हें बिल के भीतर अट्ठाईस दिनों तक घोर द्वन्द युद्ध करना पड़ा। जिस हत्या की जड़ इस मणि के पीछे यह सब पाप हुआ, वह फिर मेरे पास

आ गई। इसके पीछे ही भगवान् से मेरा वैर हो गया, अब मेरा कल्याण नहीं। क्या करूँ, कैसे भगवान् को प्रसन्न रख सकूँ।"

इस बात को वह निरन्तर सोचता रहता। अब वह घर से बाहर नहीं निकलता था। एक दिन उसकी युवती लड़की सत्यभामा ने बड़े प्रेम से पूछा—"पिताजी! आप इतने चिन्तित क्यों रहते हैं।"

सत्यभामा सत्राजित् की इकलौती ही पुत्री थी। वह अत्यन्त ही सुन्दरी थी। द्वारकापुरी में उसकी सुन्दरता की सर्वत्र ख्याति थी। यादवगण अपनी जाति में ही विवाह करते थे। पितृपक्ष की सात पीढ़ी तथा मातृपक्ष की सात पीढ़ी बचाकर आपस में ही विवाह कर लेते थे। सत्यभामा को जो भी देखता वही उसके शील, स्वभाव रूप उदारता तथा अन्यान्य सद् गुणों को देखकर मुग्ध हो जाता। जब वह बड़ी हुई तो बहुत से यादवों ने सत्राजित् से उस सर्वगुण सम्पन्ना कन्या की याचना की। अक्रूर, कृतवर्मा, शतधन्वा इन सबका एक गुट था। शतधन्वा ने सत्राजित् से सत्यभामा के लिए बहुत आग्रह किया। अक्रूर और कृतवर्मा ने भी शतधन्वा पर दबाव डाला। अतः शतधन्वा के साथ सत्यभामा की सगाई पक्की हो गई। विवाह होने में कुछ ही देरी थी, कि यह अप्रिय घटना घट गई। विवाह रुक गया। अब सत्राजित् को कन्या के विवाह की बात तो भूल गई। रात्रि दिन उसे यही चिन्ता व्यथित करती रहती थी, कि श्रीहरि किस प्रकार मुझसे प्रसन्न हों, कैसे मैं अपने अपराध का मार्जन कर सकूँ। आज जब अत्यन्त मधुर वाणी में उसकी युवती कन्या ने उससे चिन्ता का कारण पूछा, तो उसने बड़े प्यार से कहा—"बेटी! क्या बताऊँ मैंने लोभवश श्रीकृष्णचन्द्र पर मिथ्या कलंक लगा दिया था। इसके लिए मुझे बड़ी आत्मग्लानि हो रही है।"

सत्यभामा जी ने कहा—"पिताजी! जो बात हो गई सो ...

गई। उसके लिए आप इतने चिन्तित क्यों हो रहे हैं। अब आप इस मणि को भगवान् के ही चरणों में समर्पित कर दें।"

सत्राजित् ने कहा—"बेटी ! मैं तो यह चहता हूँ, किन्तु वे लेंगे नहीं।"

सत्यभामाजी ने कहा—"लेंगे क्यों नहीं पिताजी ! किसी युक्ति से उन्हें भेंट कर दें। वे तो बड़े भक्त वत्सल हैं, जो उन्हें कोई श्रद्धा भक्ति से एक फूल, एक पत्ती अथवा एक चुल्लू जल भी देता है, तो उसे भी प्रेम पूर्वक ग्रहण ही नहीं करते खा जाते हैं। आप उन्हें अपना शत्रु न समझकर सगा सम्बन्धी समझें। उन्हें अपनी सेवा से प्रसन्न करें।"

यह कह कर सत्यभामा भीतर चली गई। सत्राजित् सोचने लगा—"भगवान् कैसे प्रसन्न होंगे। किस बात से उन्हें प्रसन्नता होगी आज कल उन्हें विवाह करने की धुन सवार है। जहाँ जाते हैं नया विवाह करके ले आते हैं। मेरी यह कन्या अभी क्वारी है, यद्यपि मैंने कृतवर्मा अक्रूर आदि के कहने से शतधन्वा के साथ इसकी पक्की सगाई कर दी है, किन्तु जब तक भाँवर न फिर जायँ, तब तक बेटी बाप की ही समझी जाती है उसे अधिकार है वह चाहे जिसे दे दे। सगाई तो छोड़ी भी जाती है। मेरी पुत्री सुशील भी है गुणवती रूपवती और बुद्धिमती भी है। इसका भगवान् के साथ विवाह कर दूँगा, तो वे मुझसे प्रसन्न भी हो जायँगे इस मणि को उन्हें दहेज में दे दूँगा। जामाता ससुर का सम्बन्ध होने से वे सब बातें भी पुरानी पड़ जायँगी फिर इस शुभ कार्य के करने से मेरा कल्याण भी हो जायगा और लोग जो मुझे अदूरदर्शी क्षुद्र, मूर्ख तथा अर्थ लोलुप समझ कर मेरी निंदा करते हैं वह भी न करेंगे। इस विरोध की शान्ति इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय से नहीं हो सकती।"

यही सब सोच कर वह श्रीकृष्ण के समीप गया और जाकर

बोला—"वासुदेव ! मेरी एक प्रार्थना है उसे स्वीकार करोगे ?"

भगवान् ने कहा—"कहो, भाई क्या बात है ?"

सत्राजित् ने कहा—आपने मेरी पुत्री सत्यभामा को तो देखा ही है ।"

भगवान्‌ने गम्भीर होकर कहा—"हाँ देखा है।"

उसने दीनताके स्वरमें कहा—"तो यदुनन्दन ! मेरी इच्छा है उसे आप स्वीकार कर लें ।"

भगवान्‌की तो पहिलेसे ही उस पर दृष्टि थी, सत्यभामाजी पृथिवीका अंशावतार थी। भगवान्‌के जन्मसिद्ध पत्नी थीं, किन्तु उनकी सगाई हो चुकी थी। आपसमें लोग यह न कहें, कि इस कृष्णने दूसरों की स्त्रियोंका छीननेका ही व्रत ले रखा है अतः वे गम्भीर होकर बोले—"सत्राजित्‌जी ! हमारे तो अब दो दो विवाह हो गये हैं, हमें अब उसकी क्या आवश्यकता है।"

सत्राजित्‌ने दीनताके साथ कहा—"अजी, महाराज क्या हुआ, दो ही गये हैं तो। राजाओं के तो अनेकों पत्नियाँ होती हैं एक और सही। मेरी कन्या बड़ी रूपवती है, उसके सद्गुणों की सर्वत्र ख्याति है वह बड़ी सुशीला है। आप चल कर देख लें।"

भगवान् ने बात पर बल देते हुए कहा—"नहीं चाचाजी ! यह मेरा अभिप्राय नहीं है। कन्या आपकी बड़ी सुन्दरी है। देवता भी उसे पाकर अपना अहोभाग्य समझेंगे, किन्तु विवाह करनेमें मैं स्वतन्त्र तो नहीं हूँ। मेरे पिता हैं, बड़े भाई हैं, माताजी हैं और सबसे ज्येष्ठ मेरे नाना महाराज उग्रसेनजी हैं। इन सबसे आप पूछ लें। ये सब आज्ञा दे देंगे, तो मुझे तो आप सब लोगों की आज्ञा माननी ही पड़ेगी।"

यह सुनकर सत्राजित् को कुछ कुछ सन्तोष हुआ। वह वसुदेवजी, देवकीजी, बलदेवजी तथा उग्रसेनजीके समीप गया। सब

मे अनुनय विनयकी। उग्रसेनजीने कहा—"अच्छी बात है, मैं तो समझता हूँ श्रीकृष्णको कोई आपत्ति न होगी। अभी तो उनके दो ही विवाह हुए हैं। उनके पिता के तेरह विवाह हुए थे। पिता से पुत्र को बढ़ कर रहना चाहिए। अच्छा एक काम करो, आप कल सभा में आना। वहीं हम सबके सामने पूछ लेंगे।"

यह सुनकर सत्राजित् चला आया। दूसरे दिन यादवों की सभा लगी। सत्राजित् भी आ गया। उसने उग्रसेनजी के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा। उग्रसेनजी ने कहा—"वासुदेव! सत्राजित् अपनी लड़की का विवाह तुम्हारे साथ करना चाहता है, इसमें तुम्हें कुछ आपत्ति तो नहीं है?"

भगवान् ने सकुचाते हुए खड़े होकर कहा—"महाराज! मैं तो आपके अधीन हूँ, आप सब जैसी भली बुरी आज्ञा देंगे, उसका पालन करना ही होगा। सबसे आप पूछ लें, सबकी सम्मति हो तो कोई बात नहीं।"

यादवों के मंत्री मंडल में शतधन्वा नहीं था। सेनाध्यक्ष कृतवर्मा थे और दानविभाग के मंत्री अक्रूरजी थे। अक्रूरजी का एक पृथक् दल था। उसका अनेकों बातों में श्रीकृष्ण के दलसे मतभेद रहता था। यद्यपि इस प्रस्तावसे अक्रूरके दलवाले सहमत नहीं थे, किन्तु जब बेटी देने वाला कह रहा है, लेने वाला अपनी स्वीकृति दे रहा है, महाराज उसका समर्थन कर रहे हैं तो कोई विरोध करे भी तो किस आधार पर करे। सर्व सम्मति से प्रस्ताव स्वकृत हो गया।

अब तो विवाहकी तैयारियाँ होने लगीं। सत्राजित्के एक ही कन्या थी, सुवर्णकी उसके यहाँ कमी नहीं थी। उसने अत्यंत ही समारोहसे विवाह किया। सब यादव विवाहमें सम्मिलित हुए। शतधन्वा द्वेष के कारण नहीं आया। कोई झूटा काम बता कर अक्रूर कृतवर्मा भी बाहर चले गये, वे भी विवाहमें सम्मिलित न

हुए। भगवान् ने शास्त्रीय विधि से सत्यभामा को ग्रहण कर लिया। सत्राजित्ने कन्याके साथ ही साथ दहेज में वह स्यमन्तक-मणि भी भगवान् को अर्पण की।

मणिको देखकर दूल्हा बने वासुदेव बोले—"देखिये पिता—जी! कन्या लेनेकी आपकी बात हमने मानली, किन्तु हम इस स्यमन्तकमणिको ग्रहण न करेंगे।"

संभ्रमके साथ सत्राजित्ने कहा—"क्यों माधव! कन्याके साथ दहेज तो दिया ही जाता है। हम आपको थोड़े ही दे रहे हैं अपनी कन्या को दे रहे हैं। इसमें आपकी आपत्ति तो न करनी चाहिए।"

भगवानने कहा—"यह सब तो ठीक ही। आपको देने का अधिकार है हमें लेने का अधिकार है। फिर भी इस समय हम मणिको लेते हैं, तो सब यही समझेंगे, कि मणिके लोभसे इन्होंने विवाह किया है। माँगनेसे जब न मिली तब यह दूसरी युक्ति मणि लेनेकी निकाली। इस समय मणि लेनेसे हमारा अपयश होगा। इस बातको आप भी न चाहेंगे, हमारा अपयश हो।"

सत्राजित्ने दीनता के साथ कहा—"माधव! इसमें अपयश-की कौनसी बात है. मैं तो अब इसे अपनी कन्या को दे ही चुका। अब कैसे लौटा सकता हूँ।"

भगवान् बोले—"देखिये पिताजी! हठ नहीं करते। आप सूर्यनारायणके भक्त हैं, उनका प्रसाद आपके ही पास रहना उचित है फिर आज न सही कल कल न सही परसों हर प्रकार से हम ही वा इसके अधिकारी हैं। आपके कोई पुत्र नहीं हैं। आप की पुत्रीके पुत्रको ही यह मिलेगी तब तक आपके पास रहे। हाँ, इसमें से जितना सुवर्ण निकले उसे चाहें नित्य आप हमारे पास भेजते रहें, इसमें हमें कुछ भी आपत्ति न होगी।"

सत्राजित्‌की हत्या

(११००)

एवं भिन्नमतिस्ताभ्यां सत्राजितमसत्तमः ।
शयानमवधील्लोभात्स पापः क्षीणजीवितः ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५७ अ० ५ श्लो०)

छप्पय

शतधन्वा इत दुखिन श्यामकी करत बुराई ।
कृष्ण बड़े उद्दण्ड सचनिकी हरत सुराई ॥
कृतवर्मा अक्रूर कहैं अपमान हमारो ।
है सत्राजित् दुष्ट अधम कूँ सोवत मारो ॥
सुनि शतधन्वा चलि दियो, ह्वैकें दोउनि तैं विदा ।
चढ़ें पराई फूँक तें, शंख और मूरख सदा ॥

मन में जब द्वेष उत्पन्न हो जाता है, तो मनुष्य को कर्तव्याकर्तव्य का विवेक रहता नहीं। जो न करने योग्य काम होता है, उसे भी कर डालता है। उसका परिणाम यह होता है, कि अन्याय करने वाले का तुरन्त नाश हो जाता है। अत्युग्र पाप और अत्युग्र पुण्य का फल तीन दिन में तीन पक्ष में तीन मास या

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् जिसका जीवन समाप्त प्रायः हो गया है ऐसे महादुष्ट शतधन्वा ने लोभवश अक्रूरादि के भड़काने से सोते हुए सत्राजित् की हत्या कर दी।"

तीन वर्ष में यहीं मिल जाता है। पाप कर्म छिपता नहीं और पापी के साथी भी समय पर उसे छोड़कर चले जाते हैं। अधर्म करके यदि कोई सुखी होता, तो, इतने बड़े बड़े विद्वान लोग कष्ट सहसह कर धर्मोपार्जन क्यों करते ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! सत्यभामाजी के साथ विवाह करके भगवान् सुखपूर्वक द्वारकापुरी में रहने लगे। अब उनके रुक्मिणीजी, जाम्बवतीजी और सत्यभामा ये तीन पटरानियाँ हो गईं। जब से अक्रूरजी हस्तिनापुर से लौटे थे तभी से भगवान् को पांडवों की चिन्ता थी। जब उन्होंने यह बात सुनी कि धृतराष्ट्र का व्यवहार उनके साथ अच्छा नहीं है। उसके दुर्योधनादि पुत्र पांडवों से द्वेष रखते हैं, तो उन्हें चिन्ता हुई। ये पांडवों से मिलना चाहते थे, किन्तु जरासन्ध, काल यवन आदि ने कई बार मथुरा पर चढ़ाई कर दी, फिर मथुरा छोड़कर भागना पड़ा, द्वारका मे आने पर भी रुक्मिणीहरण आदि के लिए युद्ध करना पड़ा। इसीलिये भगवान पांडवों से मिलने हस्तिनापुर न जा सके।

इधर दुर्योधन पांडवों से अत्यधिक द्वेष मानने लगा। वह चाहता था ये पांडव किसी प्रकार मर जायं, तो मैं निष्कंटक होकर राज्य करूँ। उसने अपने मन्त्रियों से सम्मति करके प्रयागराज के आगे गंगा तट पर वारणावत (सिरसा के समीप लाक्षागृह) में एक लाख का घर बनवाया वह इतना गुप्तरूपसे बनवाया था, कि किसी को मालूम न होने पावे। वारणावत कुरु देश की सीमा थी। वहाँ सोमवती अमावस्याको बड़ा भारी मेला होता था जो अब तक भी होता चला आ रहा है। दुर्योधन चाहता था मेले के मिससे पांडवों को वारणावत मे भेज दें, वहाँ उन्हें लाखके घरमे ठहरावें। अवसर आने पर रात्रि में उस घरमे अग्नि दिला दें। जिससे यह सबके सब सोते हुए ही जलकर मर जायँ।

इससे हमारे शत्रुओं का नाश भी हो जायगा और हमारी प्रजा में अपयश भी न होगा। यही सब सोचकर उसने अपने एक चतुर मन्त्री द्वारा लाक्षागृह का निर्माण कराया।

विदुरजी तो धृतराष्ट्रके प्रधान मन्त्री ही थे, उनसे तो कोई बात छिप ही नहीं सकती थी। उन्होंने दुर्योधन और उसके कर्ण दुःशासन शकुनि आदि के पीछे अपने गुप्तचर लगा रखे थे। उन्हें दुर्योधन के दुष्ट विचार का पता चल गया। इसलिये उन्होंने उस लाख के किले में शिल्पी से मिलकर ऐसी गुप्त सुरंग बनवा दी थी, कि उसके द्वारा तुरन्त गंगापार हो जायें। वहाँ अपने एक विश्वसनीय पुरुष को सुदृढ़ नौका लेकर भी रख छोड़ा था, कि कभी ऐसी घटना हो जाय, तो वह तुरंत पाण्डवोंको पार कर दे।

धर्मराज युधिष्ठिर तो सीधे सादे थे, उन्हें दुर्योधन के दुष्ट-भाव का क्या पता था। जब किला बनकर तैयार हो गया, तो दुर्योधन ने अपने पिता धृतराष्ट्र द्वारा कहलाया कि वारणावत में बड़ा भारी मेला होता है, तुम पाँचों भाई वहाँ जाकर कुछ दिन रहो। यहाँ तुम लोगों का चित्त भी अच्छा नहीं रहता परस्पर के मनोमालिन्य से उदासी भी रहती है, वहां जाने पर तुम्हारा मन बदल जायगा। वर्ष छै महीने रहकर चले आना।"

पांडव तो यह चाहते ही थ, दुर्योधन से पृथक्‌ रहें। अतः उन्होंने धृतराष्ट्र को आज्ञा सहर्ष शिरोधार्य की। महारानी कुन्ती के सहित पाँचों पांडव वारणावत को चलने को तैयार हो गये। चलते समय म्लेच्छ भाषा में विदुरजी ने धर्मराज युधिष्ठिर को सब बातें समझा दीं और यह भी कह दिया, मैंने तुम्हारे निकल भागने का सब प्रबन्ध कर दिया है।" इससे धर्मराज सचेष्ट हो गये।

वारणावत में पहुँचने पर वहाँ के राज्याधिकारी पांडवों का

स्वागत सत्कार किया और उन्हें बड़े आदर से लाक्षागृह में ठहरा दिया। दुर्योधन का एक दुष्ट मन्त्री तो वहाँ इसी काम के लिये नियुक्त ही था। पांडवों ने जाते ही अपने भागने के सब मार्ग देख लिये थे वे भी सदा सावधान रहते थे। एक दिन अवसर पाकर उस मन्त्री ने उस लाख के घर में आग लगा दी। भीमसेन जाग रहे थे, वे तुरन्त अपनी माता और भाइयों को साथ लेकर गुफा द्वारा गंगा किनारे सकुशल आ गये और नौका द्वारा पार होकर छिपे छिपे ब्राह्मणों का वेष बनाकर एक चका नगरी में आकर रहने लगे।

संयोग की बात जिस दिन यह अग्निकांड की दुखद घटना हुई उसी दिन एक भिखारिनि अपने पाँच पुत्रों को लेकर पांडवों के पास भोजन माँगने आई। भर पेट भोजन करके वह वहीं सो गई। अग्नि लगने से वह पुत्रों सहित जलकर मर गई। विदुरजी के उस शिल्पी ने प्रातःकाल राख हटाने के मिससे उस गुफा को पाट दिया। सब लोगों ने जब जले हुए छै आदमियों के शव देखे तो सबको निश्चय होगया। कुन्ती सहित पाँचों पांडव लाक्षागृह में जल मरे। इस समाचार से दुर्योधन को आन्तरिक प्रसन्नता हुई, किन्तु ऊपर से उसने बड़ा शोक प्रकाशित किया। पाण्डवों के समस्त और्ध्वदैहिक कर्म बड़ी उदारता के साथ किये गये। अपने सगे सम्बन्धियों के समीप इस दुखद समाचार की सूचना दी।

भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी सुखपूर्वक अन्तःपुर में बैठे ही थे, कि हस्तिनापुर के दूत को लेकर द्वारपाल आया। दूत ने प्रणाम करके निवेदन किया—"प्रभो! वारणावतमें एक दुर्घटनाके कारण पाँचों पांडव और महारानी कुन्ती जलकर मर गये हैं। अमुक अमुक दिन उनके श्राद्धादि हैं।

भगवान् तो सर्वज्ञ थे वे तो सब जानते थे, पांडवों को कौन

मार सकता है। उनके द्वारा तो मुझे समस्त भू का भार उतारना है। फिर भी नर नाट्य करने के लिये उन्होंने अत्यन्त शोक प्रकाशित किया। बलरामजी से आप बोले—"भैया! ऐसे समय हम लोगों को हस्तिनापुर अवश्य चलना चाहिये। अभ्युदय में और शोक के समय सम्बन्धियों का सहानुभूति प्रकट करने के लिये जाना अत्यावश्यक है। अभ्युदय में एक बार न भी जाय, किन्तु शोक के अवसर पर जाना तो अत्यावश्यक है।"

बलदेवजी ने कहा—'हाँ भाई! अवश्य चलना चाहिये।" इस प्रकार दोनों भाई सम्मति करके रथमें बैठकर तुरन्त हस्तिनापुर को कुलोचित व्यवहार पालन करने के निमित्त चल दिये। वहाँ पहुँचकर वे सर्व प्रथम तो कुरुकुल के पितामह श्रीभीष्मजीसे मिले। फिर धृतराष्ट्र, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, विदुर तथा गान्धारी आदि से मिले। नर नाट्य करने के निमित्त भगवान् अनजान की भाँति बार बार आँखों में आँसू भर भरकर पूछते—"वे जल कैसे गये? किसी ने अग्नि को बुझाया नहीं? वहाँ कोई नौकर नहीं थे? सहसा अग्नि ने इतना प्रचण्ड रूप रख कैसे लिया" इन बातों को कोई सन्तोषजनक उत्तर न देता, तो अपने ही आप कहने लगते—'अजी, सौ बात की एक बात तो यह है, कि जब जिसकी मृत्यु आ जाती है, तब तिसके सभी साधन वैसे ही बन जाते हैं। प्रारब्ध को कोई मेंट नहीं सकता। होनी होकर ही रहती है। देखो, कितने कष्ट की बात है महारानी कुन्ती के वे देवताओं के वर्य से पुत्र हुए थे। अब महाराज पांडु के वंश में कोई भी नहीं रहा।" इस प्रकार अपनी सहानुभूति प्रकट करते हुए बलदेवजी के सहित श्यामसुन्दर कुछ दिनों तक हस्तिनापुर में रह गये।

इधर जब द्वारका भगवान् से शून्य हो गई तब लोग निर्भय हो गये। शतधन्वा के हृदय में द्वेष की अग्नि भड़क रही थी।

अक्रूरजी से तथा उनके मन्त्रिमण्डल से उसका बड़ा मेल जोल था। कृतवर्माजी भी अक्रूरजी के ही दल के थे। इन लोगों ने ही कह सुनकर सत्राजित् से सत्यभामा की सगाई शतधन्वा के साथ कराई थी। अतः शतधन्वा अक्रूरजी के ही समीप गया और उदास होकर बोला—"अक्रूरजी! देखो, इस सत्राजित् ने मेरा कितना भारी अपमान किया है। इसे मुझे अपनी कन्या नहीं देनी थी, तो मेरे साथ सगाई क्यों की। अब मैं किसी को क्या मुँह दिखाऊँगा।"

इधर उधर देखकर अवसर पाकर अक्रूरजी और कृतवर्मा ने शनैः शनैः कहना आरम्भ किया—"भैया! इस में केवल तुम्हारा ही नहीं, हम सब लोगों का घोर अपमान है। हमारे कहने पर ही उसने तुम्हारे साथ सगाई की। वाग्दान हो गया, फिर भी उसने हमारा कुछ भी ध्यान न रखकर श्रीकृष्णचन्द्र को अपनी कन्या दे दी। इस दुष्ट को कुछ दण्ड मिलना चाहिये।"

शतधन्वा ने कहा—"कैसे दण्ड दिलाया जाय। महाराज उग्रसेन ने तो भरी सभा में सबसे हाँ करा ली थी। अतः राजद्वार में अभियोग तो चल नहीं सकता। अब आप लोग कोई दूसरा उपाय बतावें।"

चुपके से कृतवर्माजी ने कहा—"अरे, अभियोग फभियोग क्या चलाना। जिस मार्ग को इसका भाई गया है, उसी का अनुसरण यह भी करे। इसके भाई को पशुसिंह ने मारा, इसकी मृत्यु पुरुषसिंह के हाथों हो। अब अच्छा अवसर है। श्रीकृष्ण यहाँ हैं भी नहीं दुष्ट को जाकर मार डालो। हम सब तो तुम्हारे साथी हैं ही। बात को दबा देंगे। रामकृष्ण आते आते बात पुरानी पड़ जायगी। पट्टू वो हाथ से

निकल हो गई। मणि को क्यों छोड़ा जाय उसे तो अपने अधिकार में कर ही लो।"

कहावत है "मूर्ख और शंख दूसरों की फूँक से बजते हैं।" शतधन्वा का हृदय तो ईर्ष्याकी अग्नि से जल ही रहा था अक्रूरजी और कृतवर्मा का अनुमोदन पाकर उसका साहस और भी बढ़ गया। उसने हाथ में खड्ग लेकर प्रतिज्ञा की—"आज मैं दुष्ट सत्राजित को उसकी करनी का फल चखाऊँगा। आज उसे इस खड्गके घाट उतारकर यमसदन पठाऊँगा। आज वह मुझसे बच नहीं सकता। कल स्यमंतकमणि मेरे अधिकार में होगी। उसमें से जो सुवर्ण निकलेगा उसमें आप सबका भी भाग होगा। आप लोग जैसे चाहें तैसे उसे व्यय करें।" इस प्रकार कहकर विद्वेषकी अग्नि से जिसका हृदय सन्तप्त हो रहा है, जिसकी मृत्यु सन्निकट आ गई है, वह क्रूर कर्मा शतधन्वा अपने घर आया। घर में आने पर उसे शांति नहीं हो रही थी। वह सायंकाल होने की प्रतीक्षा कर रहा था। सूर्यास्त हो गये। आधी रात भी बीत गई, तब वह हाथ में तीक्ष्ण खड्ग लेकर उठा। उस समय सत्राजित् सुन्दर सुवर्ण की शैया पर सुखपूर्वक सो रहा था। भगवान् के द्वारिका चले जाने के कारण सत्यभामाजी भी अपने पिता के ही घर में ठहरी हुई थीं। सुवर्ण के बने भवन में एक ओर सत्राजित् सो रहा था। समीप के भवन में ही उसकी पत्नी अपनी पुत्री सत्यभामा के साथ सो रही थी। उसी समय भीत फाँदकर शतधन्वा घर में घुस आया। आते ही उसने सत्राजित् को शैया पर बाँध दिया और उसे जगाकर बोला—"नीच! दुष्ट पापी! तैंने मेरा अपमान किया है, अब तू भी अपने भाई के समीप जा। बता मणि कहाँ है।"

सत्राजित् घोर निद्रा में था, पहिले तो उसकी समझ में ही कुछ न आया। जब उसकी निद्रा चली गई, तो वह सब रहस्य

समझ गया। उसने दीनता के साथ कहा—"भैया! देखो, मेरी इस प्रकार पशु की भाँति हत्या मत करो। तुम्हें मणि चाहिये तो वह रखी है ले जाओ। मेरे प्राणोंको छोड़ दो। मेरे ऊपर दया करो।"

दाँतों को किटकिटाकर क्रोध में भरकर शतधन्वा ने कहा—"नीच! कुलाङ्गार! असत्यवादी! तेरे ऊपर दया करना सर्प को दूध पिलाने के समान है, तू अपनी करनी का फल भोग।" यह कहकर उसने खड्ग से सत्राजित् का सिर धड़ से पृथक कर दिया। रक्त की धार बहने लगी। उसके बगुलों के पंख के समान समस्त शुभ्रवस्त्र रक्त रंजित हो गये। मरते समय उसने एक चीख मारी। उस चीख को सुनकर सब स्त्रियाँ जाग पड़ीं। उन्होंने यमराज के समान हाथ में खड्ग लिये हुए शतधन्वा को देखा। समीप ही रक्तरंजित शैया पर सिर कटे हुए सत्राजित् को भी देखा। यह देखकर स्त्रियाँ रोने चिल्लाने लगीं पछाड़ खाकर गिरने लगीं। शतधन्वा को कोसने लगीं और अपनी छातियों को कूटने लगीं। उस समय का दृश्य अत्यन्त ही करुणा पूर्ण था। कसाई जैसे पशुओं को मारकर प्रसन्न होता है, वैसे ही शतधन्वा सत्राजित् को मारकर प्रसन्न हो रहा था। स्त्रियों के रुदन की ओर उसने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। मणि को लेकर किवाड़ खोलकर वह भाग गया और आकर अपने घर में रहने लगा।"

नगर की रक्षा का कार्य तो कृतवर्माजी के ही अधिकार में था। जब उनकी सम्मति से ही हत्या हुई तो कोई राजकर्मचारी उसमें हस्तक्षेप कैसे करता। आस पास के स्त्री पुरुष जुट गये। पिता के मृतक शरीर को देखकर सत्यभामाजी कुररी पक्षिणी की भाँति रुदन कर रही थीं। वे अत्यंत ही शोकाकुल होकर बारम्बार "हा पिताजी! हा पिताजी!" कहकर रुदन करतीं और फिर मूर्छित हो जातीं। इस प्रकार रोते रोते प्रातःकाल हो गया। उग्रसेनजी को सूचना दी गई। उन्होंने कृतवर्माजी से हत्यारे का पता लगाने को

कहा। ये तो षड्यंत्र में सम्मिलित ही थे, अतः इधर उधर की बातें बनाकर उस पर लीपा पोती करने लगे।

सत्यभामाजी ने जब देखा, ये सब लोग तो मिले हुए हैं। ये सब चाहते हैं, पिताजी के शव को जला दिया जाय, बात दबा दी जाय, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे बड़ी बुद्धिमती थीं। उसी समय उन्होंने अपने महलों से अपने निजी सेवकों को बुलाया। अपना रथ मँगवाया। तैल का एक बड़ा भारी कड़ाह मँगाकर उसमें उन्होंने अपने पिता के मृतक शरीर को रखवाया। सेवकों से कहा—"देखो जब तक मैं लौटकर न आऊँ, तब तक मेरे पिता के शरीर की तुम सब सावधानी से रक्षा करना कोई इसे छूने न पावे।" यह कहकर वे रथ में बैठकर हस्तिनापुर की ओर चल दीं।

इस बात की किसी को आशा नहीं थी, कि स्त्री होकर सत्यभामाजी ऐसे साहस का काम करेंगी। अब तो सबकी सिटिल्ली भूल गई। पापी का हृदय बड़ा दुर्बल होता है। जो जो भी इस षडयन्त्र में सम्मिलित थे वे डर गये किसी का साहस न हुआ कि सत्राजित् के शरीर को जला दे।

इधर सत्यभामाजी अत्यंत शीघ्रगामी घोड़ों के रथ पर चढ़कर दूसरे दिन हस्तिनापुर पहुँच गईं। जाते ही वे पछाड़ खाकर भगवान् के आगे गिर गईं। भगवान् ने उन्हें अपने हाथों से उठाते हुए हृदय से लगाकर कहा—"प्रिये! क्या बात है, तुम इतनी दुखी क्यों हो?"

रोते रोते सत्यभामाजी ने कहा—"दुष्ट शतधन्वा ने मेरे पिता की हत्या कर दी। द्वारका में मेरी कोई बात सुनता नहीं। आप यहाँ आकर बैठे हैं। वहाँ क्या हो रहा है इसकी सुधि ही नहीं।"

भगवान् तो सब पहिले से ही जानते थे सत्यभामाजी के मुख

से यह सुनकर वे मन ही मन प्रसन्न हुए। सोचने लगे—"अच्छा है ससुर मर गया। उसने हमारे ऊपर मिथ्या कलंक लगाया था। किन्तु सत्यभामाजी के सम्मुख कैसे कहते। अतः ऊपर से बड़ा दुःख प्रकट करते हुए। बनावटी आँसू बहाते हुए कहने लगे—"हाय! बड़े दुःख की बात है। बड़ी दुखद घटना घटित हो गई। यदि मैं वहाँ होता, तो उसका ऐसा साहस कभी न होता। तुम चलो, मैं उस दुष्ट का सिर अभी धड़ से पृथक् करता हूँ। तुम्हारे पिता का हत्यारा कभी जीवित नहीं रह सकता। अब जो हो गया सो हो गया। यह दैवी विपत्ति सहसा हमारे ऊपर टूट पड़ी।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार अपनी पत्नी के सम्मुख बहुत काल तक आँसू बहाकर और अपने भाई बलदेवजी तथा सत्यभामाजी को साथ लेकर भगवान् तुरन्त हस्तिनापुर से द्वारकापुरी के लिये चल दिये।

छप्पय

नहीं द्वारका श्याम सोचि खल घर महँ आयो।
सत्राजित् सुत सहित सदन महँ सोवत पायो॥
सिर धड़ तैं करि पृथक् भग्यो मणि लैकैं पापी।
सतभामा अति दुखित चित्त चिन्ता बहु व्यापी॥
मृतक देह धरि तैल महँ, रथ चढ़ि हथिनापुर गई।
सकल बात अति दुखित ह्वै, रोइ रोइ हरि तैं कही॥

शतधन्वाका वध

(११०१)

पदातेर्भगवांस्तस्य पदातिस्तिग्मनेमिना ।
चक्रेण शिर उत्कृत्य वाससो व्यचिनोन्मणिम् ॥*
(श्री भा० १० स्क० ५७ अ० २१ श्लो०)

छप्पय

ऊपर तैं करि शोक द्वारका यदुवर आये।
शतधन्वा अति डरयो तुरत अक्रूर बुलाये॥
'हरि तैं रक्षा करो' दीन ह्वै बोल्यो उनतैं।
सुनि बोले अक्रूर वैर को साधै तिन तैं॥
खल बोल्यो घबराइ कें, "अच्छा, मणिकूँ तो धरो।
हौं भागूँ पुर छोड़ि तुम, सुख तैं मंत्रीपन करो॥

पापी के साथी चिर काल तक साथ नहीं देते। अवसर आने पर भय, लोभ या अन्य स्वार्थ समुपस्थित होने पर वे उसका साथ छोड़कर चले जाते हैं। इस लोक में चाहे पापी का कोई साथ दे भी दे, किन्तु परलोक मे तो अपने किये पाप का फल स्वयं ही भोगना पड़ता है। यह धन इतनी बुरी वस्तु है, कि अच्छे

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! शतधन्वा पैदल ही भाग रहा था, अतः भगवान् ने पैदल ही भागकर अपने तीक्ष्ण धार वाले चक्र से उसके सिर को काट लिया। फिर उसके वस्त्रों में वे स्यमन्तक मणि ढूँढ़ने लगे।"

अच्छे लोगों का मन डिग जाता है। इसका परिणाम चिंता दुःख कलह और अशान्ति है। धन आने पर उसकी रक्षा में दुःख होता है, न आने पर उसके अभाव में दुःख होता है तथा प्राप्त करने में भी नाना भाँति के दुःख उठाने पड़ते हैं। जो वस्तु बिना भगवान के अर्पण किये व्यवहार में लाई जाती है, उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। उसको देखकर सबका मन चंचल हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् हस्तिनापुर से अति शीघ्र द्वारकापुरी में आ गये। आते ही उन्होंने शतधन्वा से मणि छीनने तथा उसे मारने का उद्योग किया। शतधन्वा ने भी यह बात सुनी। अब तो उसके पेट में पानी हो गया। भय के कारण थरथर काँपने लगा। वह जानता था कृष्ण और बलराम से मैं किसी भी प्रकार जीत नहीं सकता। अब उसे अपने प्राण बचाने की चिन्ता हुई। दौड़ा दौड़ा वह कृतवर्माजी के पास गया। उस समय वे घर में नहीं थे किसी प्रकार चुपके से उन्हें बुलाया और अत्यन्त ही दीन होकर बोला—"देखिये, मैंने आपकी बात मानकर सत्राजित् का वध किया। अब मेरे ऊपर विपत्ति आ गई है, आप सेनाध्यक्ष हो मेरी रक्षा करो। अब मेरे प्राण आपके ही अधीन हैं।

कृतवर्माजी ने रुखाई के साथ कहा—"देखो, शतधन्वा! अब तुमने जो बात कही सो कही। फिर किसी के सामने यह बात मत कहना कि तुमने मेरे कहने से सत्राजित् का वध किया। मेरा सत्राजित् से क्या द्वेष था। तुमने द्वेष वश अपने स्वार्थ से उसकी हत्या की। मणि के लोभ से तुमने उसको मार डाला है।"

दीनता के स्वर में शतधन्वा ने कहा—"अच्छी बात है मैं फिर किसी से यह बात न कहूँगा। मणि चाहे आप मुझसे लेलें, परन्तु कृष्णबलराम से मेरी रक्षा करें वे मुझे मार ही डालेंगे।"

कृतवर्मा ने कहा—"भैया ! तुम पागल हो गये हो क्या ? अरे, कोई दूसरा होता तो बात भी थी भला सर्व समर्थ श्रीकृष्ण-चन्द्र और बलरामजी की अवहेलना मैं कैसे कर सकता हूँ तुम ही बताओ उनका अपराध करके किसने सुख पाया है। कंस ने उनसे द्वेष किया, वह अपने बन्धु बान्धवों सहित मारा गया। हमारी जाति में कंस से बढ़कर बली कौन था, उसे भी श्रीकृष्ण ने भरी सभा में पशु की भाँति मार दिया। आज संसार में सबसे अधिक बली जरासन्ध है, उसे भी सत्रह बार इन दोनों भाइयों से हार खानी पड़ी। इसलिये भैया, मैं इस सम्बन्ध में तुम्हारा कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। तुम मेरे यहाँ से चले जाओ। किसी गुप्तचर ने तुम्हें मुझसे बात करते देख लिया, तो मेरे ऊपर भी संदेह किया जायगा।"

कृतवर्माजी से ऐसा टकासा कोरा उत्तर पाकर शतधन्वा अत्यन्त दुखी हुआ। जैसे मंझधार में नाव डूब जाने पर न तैरने वाला मनुष्य छटपटाता है वैसे ही वह छटपटाने लगा। डूबने का तिनका का भी सहारा बहुत होता है, उसने सोचा—"संभव है अक्रूरजी मेरी कुछ सहायता कर सकें, अतः वह दौड़ा दौड़ा अक्रूरजी के पास गया। अक्रूरजी के पास भी जाकर उसने उसी प्रकार दीनता के साथ सहायता की भीख माँगी।

अक्रूरजी ने उसकी बात सुनकर कहा—"भैया ! देखो, मेरी हृदय से तुम्हारे साथ सहानुभूति है, किन्तु परिस्थिति ऐसी है मैं इस समय तुम्हारी कुछ भी सहायता करने में असमर्थ हूँ। मुझे तुम्हारे ऊपर बड़ी दया आ रही है, किन्तु करूँ क्या ? श्रीकृष्ण अपने ससुर के मरने से बड़े क्रुद्ध हो रहे हैं। उनके सम्मुख जाने तक का मेरा साहस नहीं होता। उनसे विरोध करने का अर्थ होता है, अपने हाथों अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारना। उनसे भला कोई जीत सकता है ?

शतधन्वा ने कहा—"दानपते ! मैं आपसे श्रीकृष्ण से लड़ने के लिये तो कह नहीं रहा हूँ मेरी प्रार्थना यही है कि, आप उन्हें समझा बुझा दें। आपके समझाने से वे मान जायँगे आप तो उनके मन की बातों को, उनके, स्वभाव को भली भाँति जानते हैं।"

अक्रूरजी ने कहा—"अरे, भैया ! मैं गूलर का भिनगा भला उनकी चेष्टा को क्या जान सकता हूँ, ब्रह्मादिक लोकपाल भी उनकी मायासे मोहित होकर उनके स्वरूपको भूल जाते हैं। वे इस विश्वब्रह्माण्ड के उत्पन्न करने वाले, पालन करने वाले तथा संहार करने वाले हैं। उनके इस कृष्णावतार के ही समस्त कर्म अलौकिक हैं। सात वर्ष की अवस्था में सात कोश के गोवर्धन पर्वत को सात दिनों तक कन्नी उँगली पर धारण किये रहे। बड़े बड़े असुरों को उन्होंने लीला में ही मार डाला। मैं भला उन अप्रमेय भगवान् को क्या समझा सकता हूँ। मैं तो उन अद्भुतकर्मा, सबके आदि कारण, अनादि, अनन्त, कूटस्थ भगवान् श्रीकृष्ण के पादपद्मों में पुनः पुनः प्रणाम ही कर सकता हूँ।"

अक्रूरजी की ऐसी बात सुन कर शतधन्वा को बड़ी निराशा हुई। उसने कहा—"अब महाराज ! बड़े लोगों की बड़ी ही बातें होती हैं, संसार में किस पर विश्वास किया जाय। अस्तु अब आप मेरी कुछ सहायता नहीं करते, तो इस स्यमन्तक मणि को तो रख लें। मैं जिस किसी प्रकार भागकर अपने प्राण बचाऊँगा। इसे कहाँ लिये लिये फिरूँगा।

यह बात अक्रूरजी के मन की थी, मणि के लोभ को वे संवरण न कर सके वे बोले—"अच्छी बात है, भाई ! तुम नहीं मानते तो इस मणि को यहाँ रख जाओ। यह कह कर उन्होंने मणि लेली और शतधन्वा को विदा कर दिया।

शतधन्वा के पास घोड़ा था, वह एक साथ चार सौ कोश बिना विश्राम लिये दौड़ सकता था। अतः उस पर चढ़ कर

वह द्वारका से भाग निकला। भगवान् ने तो चारों ओर अपने गुप्तचर लगा रक्खे थे, ज्यों ही उन्हें समाचार मिला कि शतधन्वा भागा है, तो उन्होंने भी अपने शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प, बलाहक नामक चार घोड़ों से युक्त गरुड़ की ध्वजा वाले रथ में बलरामजी के सहित बैठकर शतधन्वा का पीछा किया। शतधन्वा अपने घोड़ों को पूरी शक्ति से दौड़ाये ले जा रहा था उसके पीछे रथ में बैठे भगवान् उसी प्रकार भाग रहे थे। जिस प्रकार सूर्य देव के पीछे शिवजी भाग रहे थे।

द्वारका से भागते भागते वह मिथिला तक आया। मिथिला में चार सौ कोश पूरे हो गये। उसका घोड़ा थक गया, जनकपुर के समीप ही एक उद्यान में घोड़े को ठोकर लगी वह गिर गया और गिरते ही मर गया। घोड़े के गिरते ही वह अत्यन्त ही भयभीत होकर पैदल ही दौड़ा। भगवान् ने भी रथ खड़ा कर दिया और वे भी पैदल ही उसके पीछे दौड़े। जिसके पीछे स्वयं भगवान् दौड़ें वह बच ही कैसे सकता है। जैसे सिंह मृग को दबोच देता है, उसी प्रकार आगे चलकर उन्होंने उसे घेर लिया। भगवान् को समीप देखकर वह पूरी शक्ति लगाकर भागा। तब भगवान् ने दूर से ही अपने तीक्ष्ण धार वाले चक्र से उसके शिर को धड़ से पृथक् कर दिया।

जब वह मर गया, तो भगवान् ने उसके वस्त्रों में स्यमन्तक मणि की खोज की। उसके पास मणि कहाँ थी। मणि तो अक्रूरजी को दे आया था। मणि के न मिलने पर भगवान् लौटकर बलदेवजी के समीप गये और बोले—"भैया! हमने शतधन्वा को व्यर्थ ही मारा। मणि तो उसके पास नहीं निकली।"

बलदेवजी को भी संदेह हो गया कि श्रीकृष्ण [illegible] है, अतः वे बोले—"श्रीकृष्ण! भैया! [illegible]

हैं नहीं। तू हमसे छल कपट की बातें करता है। हमें सब पता है, तू अपनी बहू को जाकर उसे देगा।"

भगवान् ने विनय के साथ कहा—"दादा! आप कैसी बात कह रहे हैं आप मुझसे चाहें जिसकी शपथ ले लें। मैंने उसके वस्त्रों में भली प्रकार देखा, उस पर मणि थी ही नहीं। आप मेरी बात का विश्वास करें।

बलदेवजी ने कहा—"अच्छी, बात है उस पर न होगी, हम तुमसे वाद विवाद तो करते नहीं। न लाया होगा, वहीं किसी के पास धरोहर के रूप में रख आया होगा, अच्छा तो अब तुम द्वारका जाओ उस मणि का पता लगाओ।"

उदास मन से भगवान् ने कहा—"आप भी चलेंगे तभी तो मैं चलूँगा।"

रूखेपन के साथ बलदेवजी ने कहा—"देख, भैया! हठ नहीं करते मैं यहाँ इतनी दूर आया हूँ ये विदेहराज मेरे परम मित्र हैं, इनसे मैं मिल लूँ, कुछ दिन इनके यहाँ मैं रहना चाहता हूँ।"

भगवान् ने कहा—"तो मैं भी आपके साथ कुछ दिन रह आऊँगा।"

बलदेवजी ने अधिकार के स्वर में कहा—"देखो! हठ नहीं करते हैं। हम जो कहें वही करो। तुम्हारे बिना द्वारका में गड़बड़ी हो जायगी। आज कल आपस में मतभेद है, तुम जाकर सबका समाधान करो। मैं कुछ काल मिथिला रहकर फिर आ जाऊँगा।

यह सुनकर भगवान् उदास हो गये, बलदेवजी बिना कुछ कहे अपना हल मूसल लेकर मिथिला पुरी में चले गये।

बलरामजी को आते देखकर विदेहराज के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने अत्यन्त ही हर्ष के साथ बलदेवजी का स्वागत सत्कार किया अनेक सामग्रियों से अत्यन्त ही प्रसन्नता पूर्वक श्रद्धा भक्तिके साथ उनकी पूजा की।.एक सच्चा मित्र अपने परम पूजनीय

मित्र का जितना स्वगात कर सकता है उससे अधिक मिथिला नरेश ने उनका स्वागत सत्कार किया। पूजा के अनंतर वे बोले- "यदुनंदन! मैं अपने समस्त राज्य को आपके अर्पण करता हूँ। मेरा सवस्व आपका है, आप मिथिलापुरी में सुख पूर्वक निवास करें।"

मिथिला नरेशके इस प्रकार आदर सत्कार से सन्तुष्ट होकर बलदेवजी कई वर्षों तक मिथिला में ही रह गये। उन्हें व्यायाम करने का व्यसन था, अतः स्वयं व्यायाम करते और राजकुमारों को अस्त्र शस्त्रों की शिक्षा भी देते। आस पास के राजकुमारों ने जब सुना कि बलदेवजी आजकल मिथिला में रहकर अस्त्र शस्त्र और गदा की सबको शिक्षा दे रहे हैं, तो दूर दूर से राजकुमार उनके पास शिक्षा प्राप्त करने आने लगे। उसी समय दुर्योधन भी गदा युद्ध की शिक्षा प्राप्त करने मिथिला आया। दुर्योधन अत्यन्त ही बली था, वह बड़ी श्रद्धा के साथ बलरामजी से गदा की शिक्षा प्राप्त करने लगा। उसकी रण चातुरी से प्रसन्न होकर बलदेवजी ने उसे युद्धविद्या में इतना निपुण कर दिया, कि संसार में धर्म युद्ध करके उसे कोई भी गदायुद्ध में जीत नहीं सकता था। इस प्रकार बलदेवजी ने मिथिला में समय बिताने के लिये धनुर्वेद का एक विद्यालय खोल रखा था।

इधर भगवान् उदास मन से द्वारकापुरी में लौट आये। उनके श्वसुर सत्राजित् का मृतक शरीर अभी तक तैल के कड़ाहे में रखा था। भगवान् ने द्वारका आकर विधिवत् उनका संस्कार कराया। सत्यभामाजी से शतधन्वा के मरने तथा मणि न मिलने का समाचार बताया। सत्राजित् की सद्गति के लिये जितने पारलौकिक कर्म होते हैं, वे सब भगवान् ने सत्यभामाजी की प्रसन्नता के निमित्त कराये। उनके जो परिवार वाले थे उनके श्राद्ध तर्पण आदि और्ध्व देहिक कर्म कराये। उनके निमित्त असंख्यों ब्राह्मणों

को भोजन कराये। असंख्यों गौएँ दान कीं और भी नाना वस्तुओं के दान दिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! श्वसुर के समस्त पारलौकिक कर्म करने के अनन्तर अब वे पता लगाने लगे, कि शतधन्वा मणि को किसके पास रख गया है। कहावत है—'चोर की दाढ़ी में तिनका' अक्रूर और कृतवर्मा तो अब थर थर काँपने लगे। वे जानते थे, भगवान् के आगे हम अपने पाप को छिपा नहीं सकते। यही सब सोचकर वे अपने बचाव का उपाय सोचने लगे।

छप्पय

यों कहि चुपके भग्यो वधिक लोभी खल कामी।
हय ताको अति वेगवान् शत योजन गामी॥
हरि बल संग रथ चढ़े दुष्ट को पीछो कीन्हों।
भगि मिथिला तक गयो चक्र तें वध करि दीन्हों॥
मिलीन मणि बल ढिँग गये, कपट समुझि बल रिस भये।
जाइ बसे मिथिलापुरी, श्याम द्वारिका कूँ गये॥

अक्रूर और कृतवर्माका पलायन

(११०२)

अक्रूरः कृतवर्मा च श्रुत्वा शतधनोर्वधम् ।
व्यूपतुर्भयवित्रस्तौ द्वारकायाः प्रयोजकौ ॥❀

(श्री भा० १० स्क ५७ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

आइ ससुर को श्राद्ध करयो बहु विप्र जिमाये ।
मणि खल कहँ धरि गयो कछुक हरि घर खुदवाये ॥
कृतवर्मा अक्रूर द्वारका तैं सुनि भागे ।
काशी महँ अक्रूर नित्य मख करिवे लागे ॥
देहिं कनकको दान बहु, कहैं दान पति सकल मुनि ।
बुलवाये घनश्याम जब, गये द्वारका तुरत पुनि ॥

इस संसार में किसी के मनका पता नहीं चलता कब कैसा हो जाय। हृदयमें निरन्तर सात्विक, राजस और तामस तीन प्रकारके भाव उठते रहते हैं। जैसे समुद्रमें निरन्तर हिलोरें उठती हैं वैसे ही त्रिगुणात्मिका असंख्यों उर्मियाँ हृदय सागरमें उठती

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! अक्रूर और कृतवर्मा यह सुनकर कि भगवान्ने शतधन्वाको मार डाला है, तो वे अत्यन्त भयभीत होकर द्वारका से दूसरे देशोंको भाग गये क्योंकि वे तो [illegible] के लिये उत्तेजित करने वाले थे।"

रहती हैं। जिनका जीवन भर पुत्र मानकर पालन किया है, कभी उनके प्रति द्वेष के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। जिनके लिये सदा पानी की भाति सुवर्ण बहाया है, कभी उनके लिये एक पैसा व्यय करने में कष्ट प्रतीत होता है। जिनको जीवन भर माता, बहिन, पुत्री की भाँति माना कभी उनके प्रति मन में बुरे भाव उठने लगते हैं। जिस धन को सदा हेय और तुच्छ समझते रहे हैं, कभी उसके प्रति ऐसी आसक्ति हो जाती है, कि प्राणों तक से हाथ धोना पड़ता है। जिनके चरणों को सदा चूमते रहे हैं, देवता के समान जिनकी नित्य पूजा करते रहे हैं, जिनके सम्मुख कभी हमने सिर नहीं उठाया है, उनके प्रति कभी ऐसा क्रोध आ जाता है, कि मुख पर हम उनका अपमान करने को उद्यत हो जाते हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने बार-बार इस बात पर बल दिया है, कि इस दुष्ट पापी चोर मन का कभी विश्वास न करे न जाने कब धोखा दे जाय, निरन्तर अपने को भगवान् की ही शरण में समझना चाहिए। भगवान् की जो वेद शास्त्ररूपी आज्ञा है, उसी का यथा शक्ति यथासामर्थ्य सदा अव्यग्र भाव से पालन करते रहना चाहिए।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सत्राजित् ने भगवान् को मिथ्या कलंक लगाया था, उसकी हत्या शतधन्वा ने स्वार्थ वश ईर्ष्या से तथा स्यमन्तक मणिके लोभसे कर दी। उसने भी अपनी करनीका फल पाया। वह भी भगवान् के चक्र से मारा गया, किन्तु उस पर मणि नहीं मिली। बलदेवजी कुपित होकर मिथिलापुरी चले गये। श्यामसुन्दर लौटकर घर गये। रुक्मिणीजी ने कहा—"प्राणनाथ! सुना है स्यमन्तक मणि सूर्य की भाँति चमकती है हमने तो उसे देखा नहीं। तनिक दिखाइये तो सही कैसी है?"

भगवान् बोले—"अरे, मणि कहाँ है?"

आश्चर्य के साथ रुक्मिणीजी ने कहा—"आप मणि छीनने ही तो शतधन्वा के पीछे गये थे। उसे आपने मार भी दिया।

उसके पास से मणि नहीं लाये ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, उसने सत्राजित् की हत्या करके मणि छीनी अवश्य थी, किन्तु जब मैंने चक्र से उसका सिर काट दिया और उसके वस्त्रों में खोजी तो मणि मिली नहीं। न जाने कहाँ वह रख गया।"

रुक्मिणीजी ने कहा—"महाराज! ऐसी उलटी सीधी बातें क्यों बनाते हो, मैं कुछ उसे पहनने के लिये तो माँग ही नहीं रही हूँ। आप सोचते होगे, मैं पहिन लूँगी तो आपको फिर मुझसे माँगने मे संकोच होगा, सत्यभामा इस पर क्रुद्ध हो जायगी। सो, महाराज! वह आपकी अत्यंत प्यारी है, उसके बाप की मणि भी है, उसे ही देकर आप प्रसन्न रखिये। मुझे मणि देखने की आवश्यकता नहीं।"

भगवान् ने सोचा—"यह मणि क्या आई इसने तो हमारे घर में सम्पूर्ण जाति में कलह उत्पन्न कर दी।" मणि की बातें हो रहीं थीं सत्यभामाजी के भी कानों में भनक पड़ी। अब रुक्मिणीजी चली गईं तो वे भी आईं और बोलीं—"कहिये महाराज! मणि मिली ?"

भगवान् ने खीजकर कहा—"अरे, कहाँ मिली मणि। इस मणि ने तो हमारे घर मे विष का बीज बो दिया। बड़े भाई कुपित होकर मिथिला चले गये, तुम्हारी बड़ी रानी मुँह फुलाये बैठीं हैं। मणि शतधन्वा पर मिली नहीं।"

सत्यभामाजी बोलीं—"आप महाराज बड़ी रानीजी को ही दें। उन्हे पहिनने ओढ़ने का बड़ा चाव है।"

भगवान् खीजकर बोले—"अरे, दें तो तब जब मणि हो। मणि को तो शतधन्वा किसी को दे गया या कहीं छिपाकर रख गया।"

व्यंग के स्वर में सत्यभामाजी ने कहा—"किसी ने भी छि

कर रखी हो, मुझे क्या लेना देना। छिपी वस्तु सदा छिपी नहीं रहती, कभी न कभी प्रकट हो ही जाती है।" यह कहकर सत्यभामाजी चली गईं।

फिर जाम्बवतीजी आईं बोलीं—"प्राणनाथ! वह मणि मेरे पिता ने दहेज में दी है आप उसे किसी को दे न दें। या तो उसे आप रखें या मेरे हार में मढ़ा दें।"

भगवान् ने माथा ठोंका। सोचने लगे—"लेना एक न देना दो। ये सब मणि के ही पीछे पड़े हैं। "सूत न कपास कोरिया से लठा ही लठा।" अब भगवान् को चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा—"जैसे हो तैसे उस मणि का पता लगाना चाहिये। इसलिये उन्होंने इधर उधर शतधन्वा के घरों को खुजवाया।"

चोर का हृदय तो साहसपूर्ण होता है जो रात में इतने लोगों के रहते घर में घुस जाता है, किन्तु उसके पैर कच्चे होते हैं तनिक सन्देह होते ही उसके पैर उखड़ जाते हैं और वह भाग खड़ा होता है। अक्रूर और कृतवर्मा ने जब देखा, कि भगवान् ने मणि के पीछे शतधन्वा को मार डाला और वे अब द्वारकापुरी में मणि को खोज कर रहे हैं। पाप तो बहुत दिनों तक छिपा नहीं रह सकता। हम लोगों ने ही शतधन्वा को उत्तेजित किया था। हमारे कहने पर ही उसने सत्राजित् की हत्या की थी। छान बीन होने पर हमारी यह बात भी प्रकट हो जायगी, फिर हमें भी प्राण दण्ड दिया जायगा। इसलिये पहिले से ही क्यों न यहाँ से भाग जायँ।" ऐसा सोच कर एक दिन चुपके से रात्रि में दोनों उठकर द्वारकापुरी से चल दिये। दोनों ही राज्य के बड़े अधिकारी थे, किसी ने उन्हें टोका भी नहीं। अक्रूरजी तो अपनी ननिहाल काशीजी में आकर रहने लगे और कृतवर्मा भी अपने किसी सम्बन्धी के यहाँ ठहर गये। अक्रूर जी अब तो निर्भय थे काशी में आकर उन्होंने एक सुवर्ण का मंदिर बनवाया उसमें मणि की स्थापना की बड़ी भक्ति से उसकी

पूजा करने लगे। पूजित मणि नित्य ६०। ७० मन सुवर्ण देती थी। उससे उन्होंने बड़े बड़े यज्ञ करने आरम्भ किये। यज्ञ भी वे साधारण नहीं करते थे। सुवर्ण का तो उन्हें अभाव ही नहीं था। चाहें जितना व्यय करें। यज्ञों की जो वेदियाँ बनती थीं वे सब सुवर्ण की होती थीं। पात्र आदि सभी सुवर्ण के होते। दक्षिणा भी सुवर्ण की दी जाती। सुवर्ण मिट्टी की भाँति व्यय किया जाता। जिस दिन यज्ञ समाप्त होता उसी दिन दूसरा यज्ञ आरम्भ कर देते। यों यज्ञ के ऊपर यज्ञ करने लगे। यथेष्ट दान धर्म करने लगे। भगवद्भक्तों पर यदि धन आ जाता है तो वे उसे दान धर्म में हृदय खोलकर लुटाते हैं। विषयियों के पास धन आता है, तो वे उसे विषय भोगों में नष्ट करते हैं और कृपणों के पास आता है, तो वे उसे भूमि में गाड़ गाड़कर रखते जाते हैं। दान से प्रसिद्धि होती है यश बढ़ता है। अक्रूरजी का चारों ओर यश फैल गया, सभी ने मिलकर उन्हें "दानपति" की उपाधि दे दी।

इधर द्वारका में बड़ा सूना सूना दिखाई देने लगा। बलदेवजी भी चले गये, विरोधी दल के नेता अक्रूरजी भी भाग गये। सेनाध्यक्ष कृतवर्मा भी द्वारका छोड़ गये। लोगों के मन में भी भय पैठ गया न जाने किस पर मणि का झूठा कलंक लगा दिया जाय। लोग अपने धन सुवर्ण को छिपाने लगे। इधर अक्रूरजी की सर्वत्र ख्याति हो गई। जब से वे काशी राज्य में आये तब से काशी का देश बहुत ही समृद्धिशाली बन गया। वहाँ समय पर वर्षा होती, बिना जोते बोये भूमि यथेष्ट अन्न देती। किसी को शारीरिक मानसिक व्याधि नहीं होती सभी का मन प्रसन्न रहता। नित्य यज्ञ याग होने से निरन्तर उत्सव समारोह होते रहते। किसी की अकाल में मृत्यु नहीं होती, कोई रोग से पीड़ित न होता।

भगवान् तो सब जानते थे, यह सब स्यमन्तक मणि का प्रभाव है, नहीं तो अक्रूरजी को तो यहाँ तो नित्य नित्य वेतन

था। इतना व्यय जो वे कर रहे हैं वह सब सुवर्ण उन्हें मणि से प्राप्त होता है। जो भी हो उन्हें अब किसी प्रकार द्वारका बुलाना चाहिए। यही सब विचारकर भगवान् अक्रूरजी को बुलाने का उपाय सोचने लगे।

कुछ लोगों का कहना है—"जब से मणि लेकर अक्रूरजी चले गये, तब से द्वारका में नाना भाँति के उत्पात होने लगे। उस स्यमन्तक मणि मे यह गुण था, कि जहाँ वह रहेगी वहाँ दुर्भिक्ष, महामारी, ग्रहपीड़ा सर्प आदि विषैले जन्तुओं का भय, मानसिक और शारीरिक दुःख तथा माया जनित अन्य उपद्रव आदि कुछ भी अनिष्टकारी कर्म वहाँ न होंगे। जब अक्रूरजी मणि को लेकर काशी चले गये, तो द्वारका में तो दुर्भिक्ष पड़ गया और काशी के देशों में सुकाल हो गया। द्वारका के लोगों को नाना प्रकार के अनर्थ प्राप्त हुए तथा वे निरन्तर शारीरिक, मानसिक दैविक और भौतिक संतापों से संतप्त रहने लगे। इसके विपरीत काशी निवासी इन सब दुःखों से रहित होकर अत्यंत सुखपूर्वक रहने लगे। इसी लिये भगवान् ने अक्रूरजी को बुलाया। किन्तु देखा जाय तो यह बात उचित नहीं। इससे भगवान् का महत्व घटता है। जहाँ स्वयं साक्षात् श्रीपति निवास करते हैं, वहाँ शारीरिक, मानसिक, दैविक और भौतिक ताप उनकी इच्छा के बिना कैसे हो सकते हैं। भगवान् जब चाहें तो ये उपद्रव हो सकते हैं, न चाहें तो वे तुरन्त रुक सकते हैं। भक्त के महत्व को दिखाने के लिये भगवान् ने ऐसे उपद्रव करा दिये। अक्रूरजी को इन उपद्रवों की शांति के लिये नहीं बुलाना चाहते थे। उन्हें तो इसलिये बुलाना चाहते थे कि घर में जो यह मणि को लेकर कलह हो गयी थी उसे शान्त करना चाहते थे।

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! द्वारका में इतने उपद्रव और अक्रूरजी के जाते ही काशी देश में सुभिक्ष हो गया, समय

ब्राह्मणों ने बताया—"महाराज ! मथुरापुरी में अनामित्र के पौत्र और वृष्णिके पुत्र एक श्वफल्क हैं, उन्हें आप अपने यहाँ बुलाकर उनका पूजन करें और उन्हें अपनी कन्याको दें तो आपके राज्यमें निश्चय ही वर्षा होगी।"

यह सुनकर काशीराजने बड़े आदरके साथ श्वफल्कजीको बुलाया। उनके आते ही वर्षा हुई। राजाने विधिवत् उनकी पूजा की और अपनी गान्दिनी कन्याका विधिवत् उनके साथ विवाह कर दिया। गान्दिनीके गर्भसे श्वफल्कजी के तेरह पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें अक्रूरजीमें भी पिताके सदृश प्रभाव था। ये बड़े धर्मात्मा थे इसीलिये उनके रहने से काशी देशमें इतना सुभिक्ष होता था।

शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! जब अक्रूरजी इतने भगवद्भक्त थे तो मणि लेकर चुपकेसे रात्रिमें उठकर चोरीसे भाग क्यों गये? उन्हें तो स्वयं ही जाकर मणि भगवान्को अर्पित कर देनी चाहिये थी।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"महाराज ! यह सब भगवान्की इच्छासे ही हुआ। अक्रूरजी के मन में कभी बड़े बड़े वैभवशाली यज्ञ करने की वासना उत्पन्न हुई होगी। द्वारकामें रहकर तो वे कर नहीं सकते थे। नियमित वेतन मिलता था। यहाँ तो इतने वैभवपूर्ण यज्ञोंका होना संभव नहीं था इसलिये उन्हें मणि लेकर काशी भेज दिया। काशीजीमें जब यज्ञ करते करते उनकी इच्छा पूर्ण हो गई तो उन्हें स्वयं ही बुलवा लिया। वे तो भगवान्के भक्त थे, अतः भगवान्का बुलावा आते ही तुरन्त द्वारकापुरीको चल दिये। भगवान् के भक्तके मनमें भूलसे भी कोई इच्छा उत्पन्न हो जाती है तो भगवान् उसे किसी न किसी प्रकार अवश्य पूरी कर देते हैं।

शौनकजीने पूछा—"अच्छा, सूतजी ! फिर क्या हुआ ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! हुआ क्या भगवानने अपने भक्त

की इच्छा पूर्ण कर दी। जब उनके यज्ञयाग दान धर्मसे तृप्ति हो गयी, तो उनके पास द्वारका आने का सन्देश भेजा। भगवान् का आदेश पाकर अक्रूरजी तुरन्त द्वारकाकी ओर चल दिये और कुछ ही काल में द्वारकापुरीमें आ गये। अब आगे जो हुआ, उसे आगे सुनाऊँगा।"

छप्पय

हरि कीयो सत्कार प्रेम तें पास बिठाये।
कुशल प्रश्न करि सकल द्वारका वृत्त बताये॥
मन्द मन्द मुसकाय पकरि कर कर तैं लीन्हो।
अति ही नेह जताय अपनपो प्रकटित कीन्हो॥
बोले—"चाचाजी! बड़े, वैभव शाली मस्त करे।
तुमही पै मणि स्यमंतक, आपस महँ हम सब लरे"॥

यस्त्वेतद्भगवत ईश्वरस्य विष्णो-
वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमंगलं च।
आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद्वा,
दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५७ अ० ४२ श्लो०)

छप्पय

बन्धु करें सन्देह लड़ें सब रानी घर महँ।
तुम मणि देहु दिखाय रहे तुमरे ही कर महँ॥
हरि आयसु अक्रूर मानि मणि सबहिँ दिखाई।
सबकी शंका मिटी शान्त सब भई लड़ाई॥
मणि दीन्ही अक्रूर कूँ, सोनो सब घर घर बटत।
सुख तैं सब यादव रहत, कृष्ण कृष्ण सब ही रटत॥

पुण्य श्लोकों के चरित्र पढ़नेसे पुण्य होता है और पापियोंकी चर्चा करने मे पाप होता है। किन्तु जिनका भगवान् के साथ संसर्ग है, वे यदि पापी भी हों, तो भगवान् के संसर्ग से वे भी

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! जो पुरुष सर्वेश्वर भगवान् विष्णु के मङ्गलमय, पापनाशक तथा परम पराक्रम सम्पन्न स्यमंतकोपाख्यान को पढ़ता है, सुनता है अथवा स्मरण करता है, वह सब प्रकार की दुष्कीर्ति से तथा पाप से छूटकर परम शान्ति प्राप्त करता है।"

पावन बन जाते हैं और उनके चरित्र भी श्रवणीय हो जाते हैं। जो भी वस्तु जो भी घटना जो भी देश जो भी काल हमें भगवत् स्मृति करावे वह पुण्य है, इसके विपरीत जो हमें अधिकाधिक संसारी विषय भोगों की ओर प्रवृत्त करे वह पाप है। विष्णु स्मरण ही संपत्ति है और विष्णु विस्मरण ही विपत्ति है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् का बुलावा पाकर अक्रूरजी द्वारका आये। आते ही भगवान् ने उन्हें डॉटा डपटा नहीं साम नीति से काम लिया। उनके आते ही वे संभ्रम के साथ उठ खड़े हुए और अत्यन्त ही उल्लास के साथ कहा—"आइये चाचाजी! आइये चाचाजी! आप तो हमें सर्वथा भूल ही गये।"

भगवान् का इतना आदर पाकर अक्रूरजी मन ही मन कुछ लज्जित हुए, भगवान से दूर बैठने लगे। तब भगवान स्वयं गये और हाथ पकड़कर ले आये और अपने सिरहाने बिठा लिया। फिर बड़े प्रेम से पूछने लगे—"कहिये चाचाजी! सब कुशल मंगल है न?"

अक्रूरजीने कहा—"सब महाराज! आपकी कृपा है। आपके आश्रितों की तो कभी अकुशल होती ही नहीं।"

फिर भगवान बोले—"अजी, चाचाजी! आपके चले जाने के पश्चात् यहाँ तो बड़े बड़े उपद्रव हुए। सब लोग बड़े कष्ट में रहे। सुना आपने तो काशीजी में बड़े भारी भारी यज्ञ किये। हम यहाँ बैठे ही बैठे आपकी कीर्ति सुनते रहते थे और मन ही मन प्रसन्न होते रहते थे, कि हमारे कुल में एक भी तो ऐसे निकले जिनकी कीर्ति दिगदिगन्तों में व्याप्त है। तीर्थ यात्रा के लिये जितने भी ब्राह्मण आते, वे सब आपके दान की प्रशंसा करते। यहाँ आप दानाध्यक्ष थे वहाँ 'दानपति' हो गये।"

अक्रूरजीने लज्जित होकर कहा—"यह सब भगवन्! आपके

चरणोंका आशीर्वाद है।" भगवान्‌ने कहा—"चाचाजी! देखिये, कीर्ति भी सभीको प्राप्त नहीं होता। एक आदमी है वह दूसरों का भला करता है लोग उसकी बुराई करते हैं, ढोंगी बताते हैं कीर्ति लोलुप कहकर उसका निन्दा करते हैं दूसरा उतना कुछ भी नहीं करता फिर भी सब लोग उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं। एक ऐसे होते हैं, जो न भी कोई काम करें तो भी उन्हें मिथ्या-कलंक लग जाता है। दूसरे ऐसे होते हैं जो चोरी भी करते हैं तो भी उनकी प्रशंसा होती है। इन सब बातों से मैं तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ, कि यह सब भाग्य के अधीन है। जैसे धन वैभव विद्या पौरुष या सदाचार से ही प्राप्त नहीं होता इसमें प्रारब्ध ही मुख्य कारण है, ऐसे ही मानप्रतिष्ठा और कीर्तिकी बात है। अच्छा, चाचाजी! हम आपसे एक बात पूछें तो आप बुरा तो न मानेंगे।"

अक्रूरजी ने स्नेह के साथ कहा—"यदुनन्दन! आप कैसी बातें कह रहे हैं। भला, मैं आपकी किसी बात का बुरा मान सकता हूँ।"

भगवान् ने हँसते हुए कहा—"अच्छा यह बताइये यह मणि कहाँ है?"

चौंककर अक्रूरजी ने कहा—"कौनसी मणि? कैसी मणि? किसकी मणि? मणि से आपका अभिप्राय क्या है?"

सबके मन की जानने वाले माधव मन्द मन्द मुसकराते हुए अक्रूरजी के हाथ को प्रेमपूर्वक अपने हाथ से दबाते हुए बोले—"देखो, चाचाजी! अब छिपाने की बात नहीं है। हम आप पर कलंक नहीं लगाते। न मणि को माँगते ही हैं। यह हम भली प्रकार जानते हैं, कि भागते समय शतधन्वा मणि आपको ही सौंप गया था और वह नित्य प्रति आठ भार सुवर्ण देनेवाली तेजोमय स्यमंतकमणि आपके ही पास है। वैसे आप नियमानु-

सार विचार करें, तो मणि पर सिद्धान्ततः हमारा ही स्वत्व है। मणि सत्राजित् की है। उनके कोई पुत्र नहीं। पुत्र के अभाव में पुत्रीके पुत्र का—दौहित्र का—अधिकार होता है। पुत्र न होने पर दौहित्र ही तिलतर्पण और श्राद्धादि करता है। अपने मातामह पर जितना ऋण हो उसे चुकाकर शेष धन का वह अधिकारी भी होता है। फिर भी हमें मणिका लोभ नहीं। मणि आपके ही पास रहे, क्योंकि हमारे कुलमें आपके समान सदाचारी नियम व्रतों का पालन करनेवाला दूसरा कोई है भी नहीं। किन्तु आप उस मणि को सबके सम्मुख दिखा दें। इसके कारण सभी मेरे ऊपर सन्देह करते हैं। मेरे बड़े भाई बलदेवजी इसी कारण मिथिलापुरीमें जाकर रहने लगे। मेरी पत्नियों में भी परस्पर में मनोमालिन्य हो गया। लोग भी भाँति भाँतिकी चर्चा करते हैं। आप मणिको दिखा देंगे, तो सबका समाधान हो जायगा। हम आप पर दोष थोड़े ही लगाते हैं। यह तो आप कह ही नहीं सकते मणि मेरे पास नहीं है। अच्छा, मान लो, आप पर मणि नहीं है, तो आप काशीजी में रहकर इतने बड़े बड़े यज्ञ कैसे करते थे। हमने तो यहाँ तक सुना है कि आपके समस्त यज्ञों की वेदियाँ सुवर्णकी होती थीं आप निरन्तर सुवर्णदान करते रहते थे। दानकी बातको कोई कितना भी छिपाये वह फैल ही जाती है। बताइये, इतना सुवर्ण आप कहाँसे लाते। यह स्पष्ट है कि आप स्यमंतकमणिकी पूजा करके उसीसे नित्य आठ भार सुवर्ण प्राप्त करते थे? तो यह तो अच्छा ही हुआ। हम यदुवंशियोंकी कीर्ति को आपने बढ़ाया ही। इससे महाराज उग्रसेन भी बड़े प्रसन्न हुए। हम भी जब ब्राह्मणोंके मुखसे आपकी प्रशंसा सुनते थे, तो फूले नहीं समाते थे। अब आप विलम्ब न करें उस मणिको सबके सम्मुख दिखा-कर सबके सन्देह को शान्त करें।"

यह सुनकर अक्रूरजी सहम गये। अब वे क्या करते। दाई

के सम्मुख पेट कैसे छिपाया जा सकता है। उन्होंने बहुत से वस्त्रों में लिपटी हुई अंटी में लगाई हुई वह मणि सबको दिखा दी। उसके प्रकाश से समस्त सभाभवन प्रकाशित हो गया, सबको ऐसा लगा मानों सुधर्मा सभा में सूर्यनारायण आ गये हों। मणि को देखकर सबके मन में जो अंधकार रूप संदेह बैठा था, वह दूर हो गया।

भगवान् ने मणिको हाथ में लेकर सबको दिखाते हुए कहा—"देख लो, भैया! यह स्यमंतक मणि ही है, मैंने इसे छिपाकर नहीं रखा था। चाचाजी को ही शतधन्वा दे गया था और वे ही इसे लेकर तीरथ व्रत करने चले गये थे। इन्होंने इसका अत्यन्त सदुपयोग किया है, हमारे कुल की कीर्ति बढ़ाई है, इन सभी कारणोंसे मणि रखनेके ये ही अधिकारी हैं। हमारे कुलमें दूसरा ऐसा श्रद्धावान् भक्त और व्रतोंका पालन करनेवाला अन्य है भी नहीं। अतः आज से यह मणि इन्हीं के पास रहेगी। हाँ, यह इनकी इच्छा के ऊपर निर्भर है कि इससे निकले सुवर्ण को ये चाहें हमारे घर भेज दें या और भी जिसके घर चाहें भेज दें।"

यह कहकर भगवान् ने वह मणि ज्यों की त्यों अक्रूरजी को लौटा दी। अक्रूरजी ने बहुत कहा—"यदुनन्दन! आप ही इस मणि को रखें, किन्तु भगवान् ने इसे स्वीकार नहीं किया।

यह बात चारों ओर फैल गई। बलदेवजी ने भी यह बात सुनी। इस बात के सुनते ही उनके हृदयमें भ्रातृस्नेह उमड़ने लगा, वे तुरन्त द्वारका में आकर सबसे मिले। फिर सबमें पूर्ववत स्नेह हो गया। सभी फिर उसी प्रकार प्रेमपूर्वक रहने लगे। मणिमें से जो सुवर्ण निकलता उसे अक्रूरजी भगवान् के यहाँ भेज देते। भगवान् उससे दान पुण्य करते और समस्त यादवों के घरों में भी पहुँचा देते।"

यह सुनकर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! हम यह जानना चाहते हैं कि भगवान् को यह मिथ्या कलंक लगा किस कारण से बिना कारण के तो कार्य होता नहीं।"

सूतजी ने कहा—"हाँ महाराज ! बिना कारण के तो कोई कार्य हुआ ही नहीं करता। कारण चाहे इस जन्म का हो अथवा पिछले जन्मों का। भगवान् ने भाद्र पद शुक्ला चतुर्थी के चन्द्रमा को देख लिया था, इसी से उन्हें यह मिथ्या कलंक लगा।"

शौनकजी ने कहा—"भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी के चन्द्रमामें ऐसी कौनसी बात है, चन्द्रमा को तो सदा सब देखते ही हैं। उनके देखने से तो चित्त प्रसन्न होता है।

सूतजी ने कहा—"हाँ, महाराज ! चन्द्रमा को देखने से सुख तो होता है, किन्तु उस दिन के चन्द्रमा को न देखना चाहिये उस दिन का चन्द्रमा कलंकी होता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी भाद्रपद की चतुर्थी के दिन चन्द्रमा को कलंक क्यों लगा इस प्रसंग को कृपा करके हमें सुनाइये।"

सूतजी बोले—"बात यह थी महाराज ! ये चन्द्रमा बड़े ही सुन्दर थे। इन्होंने राजसूय यज्ञ किया। इससे इनका प्रकाश और बढ़ गया। बहुतसी मुनियों की स्त्रियाँ इनके सौंदर्य पर रीझने लगीं। इससे इनका अभिमान और भी बढ़ गया। देवताओं के गुरु भगवान् बृहस्पतिजी की पत्नी तारा अत्यन्त ही रूपवती थीं। उन्हें देखकर चन्द्रमा का मन डिग गया। उन्होंने भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी को तारादेवी का हरण किया। देवताओं ने बहुत समझाया किन्तु चन्द्रमा माने ही नहीं। बृहस्पतिजी से द्वेष रखने के कारण शुक्राचार्य चन्द्रमा के पक्ष में हो गये। युद्ध की तैयारियाँ हुईं। ब्रह्माजीने बीच बिचाव करके तारा को बृहस्पतिजी के लिये दिलवा दिया। उस समय बृहस्पतिजी ने अपनी पत्नी

वागको बहुत डाँटा डपटा। इससे दुखी होकर तारादेवीने चन्द्रमा को शाप दिया—जा, तू आज से कलंकी होगा। जो पुरुष तुझ कलंकी को देखेगा वह भी कलंकी हो जायगा।"

इस शाप को सुनकर चन्द्रमा को बड़ा दुःख हुआ, उसने नारायण सरोवर के तट पर जाकर निराहार रहकर बहुत दिनों तक घोर तप किया। उसके तप से सन्तुष्ट होकर भगवान् श्रीमन्नारायण उसके सम्मुख प्रकट हुए। भगवान् ने देखा, तप करते करते चन्द्रमा अत्यन्त क्षीण हो गया है, उसकी ऐसी दशा देखकर दीनबन्धु दीनानाथ दामोदर को दया आ गई। वे बोले—"हे चन्द्रदेव! तैंने पाप तो बड़ा भारी किया है। गुरुपत्नीगामी का निस्तार नहीं होता, किन्तु तैंने इस परम पावन स्थान में चिरकाल तक मेरी आराधना की है, अतः तू आज से निष्कलंक हो जायगा। अब तुझे देखने से किसी को कलंक न लगेगा, किन्तु हाँ भाद्रशुक्ला चतुर्थी को जिस दिन तैंने तारादेवी का हरण किया है भाद्रकृष्णा चतुर्थी को जिस दिन तारादेवी ने तुझे शाप दिया है। इन दोनों भाद्रपद की चतुर्थियों को जो तुझे देखेगा उस पर तेरा कलंक चला जायगा।" यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और चन्द्रमा भी प्रसन्न होकर अपने स्थान को लौट आया।

उस दिन से जो भी भादों की चतुर्थी के चन्द्रमाको देखता है, उसे मिथ्या कलंक लग जाता है। भगवान् ने भी उसे देख लिया इसलिये उनको भी झूठा कलंक लग गया।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् ने जान बूझकर अपने सिर कलंक क्यों लिया? वे चाहते तो चन्द्रमा को न देखते।"

सूतजी बोले—"भगवान्! भगवान् जो भी करते हैं, लोक संग्रह के लिये करते हैं। उन्होंने अपने ऊपर कलंक लेकर यह

दिखाया कि सर्व समर्थ भगवान् भी कर्म के फलों को भोगते हैं। फिर भगवान् को लोगों का उद्धार भी तो करना था, जो भूल से चन्द्रमा को देख ले उसके उद्धार का भी उपाय तो निकालना था। उसके उद्धार का यही उपाय है कि भूलसे किसीकी दृष्टि भादों की चतुर्थीके चन्द्रमापर पड़ जाय, तो वे आदि से अन्त तक 'भागवती-कथा' के अन्तर्गत इस स्यमन्तकोपाख्यानको आरम्भसे समाप्ति पर्यन्त पढ़ले या सुनले तो उसका कलंक अवश्य ही छूट जाता है। भाद्रपद चतुर्थीके चन्द्रको देखनेका दोष दूर हो जाता है। अतः जो पुरुष इस सर्वेश्वर भगवान् के परमपावन स्यमन्तकोपाख्यान रूपी पवित्र चरित्रको श्रद्धाभक्तिके साथ श्रवण करेंगे, वे चतुर्थीके देखे चद्रके पाप से ही न छूट जायँगे, अपितु सब प्रकार की अपकीर्तिसे मुक्त हो जायँगे। मिथ्या अपयश से जिनके चित्त में उद्वेग होता होगा वह भी सब शान्त हो जायगा और वे परम पदके अधिकारी बनेंगे। यह मैंने स्यमन्तकोपाख्यानकी कथा कही। अब आप भगवान्के अन्य विवाहोंकी कथा श्रवण करें।

छप्पय

देख्यो चन्दा चौथ भाद्रपदको श्रीयदुवर।
ता तैं लग्यो कलङ्क सह्यो सब अपयश श्रीधर॥
जो स्यमंत आख्यान प्रेम तैं सुनें सुनावें।
चौथ चन्द्रको दोष मिटै सब शोक नशावें॥
अपयश अपकीरति बड़ी, दुखदायी अति कष्ट प्रद।
मिलै शान्ति जा कथा तैं, अन्त पाहिं नर परम पद॥

—::—

भगवान्‌का चौथा विवाह

(११०४)

अथोपयेमे कालिन्दीं सुपुण्यर्त्वृक्ष ऊर्जिते ।
वितन्वन्परमानन्दं स्वानां परम मङ्गलम् ॥*

(श्री भा० १० स्क० ५८ अ० २९ श्लो०)

छप्पय

कालिन्दी सँग ब्याह करयो जैसे श्रीनटवर।
सुनो, ताहि अब कहूँ ब्याह चौथो अति सुखकर॥
इन्द्रप्रस्थ हरि गये भये तब पांडव राजा।
यदुनन्दन कूँ निरखि भयो सब सुखी समाजा॥
इक दिन यमुना तट गये, मृगया हित कन्या जहाँ।
रवितनया हरि वरन हित, करति घोर अति तप तहाँ॥

भक्त वांछा कल्पतरु भगवान् वासुदेव अपने आश्रितों की इच्छापूर्तिक निमित्त सब कुछ करने को उद्यत हो जाते हैं। उनके अवतार का सर्वप्रधान उद्देश्य ही यह है, कि वे अपने शरणागतों की इच्छा को पूर्ण करें। भक्तों के भावों को जान कर वे वैसे ही बन कर समुपस्थित होते हैं और

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! द्वारकामें आकर भगवान्‌ने पुण्य ऋतु उच्चतिथिशील नक्षत्रके आने पर अपने स्वजनोंको परमानन्द और परम मङ्गल प्रदान करते हुए सूर्यतनया कालिन्दीके साथ विवाह किया।"

जैसे वे चाहते हैं, वैसा ही रूप रख कर उनको प्रसन्न करते हैं। भगवान्में यह बात न हो, तो भक्तगण अपना सर्वस्व समर्पित कर के सभी संसारी सुखोंको तिलाञ्जलि देकर-उनके पीछे क्यों पड़े रहें।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! मैंने भगवानके प्रधान तीन विवाहोंका वर्णन आपसे किया। श्रीजाम्बवतीजी और सत्यभामाजीके विवाहके प्रसंगमें स्यमन्तकमणिका भी आख्यान सुना दिया। अब आप उनके चतुर्थ विवाहका वृत्तान्त श्रवण करें।

यह तो मैं पीछे बता ही चुका हूँ, कि पांडवोंके जल कर भस्म होनेके मिथ्या समाचारको सुनकर भगवान् कुल व्यवहार जतानेको हस्तिनापुर गये थे, किन्तु वे जानते थे पांडव मरे नहीं हैं अब तक भगवानने न तो प्रत्यक्ष रूप से अपनी बूआ कुन्तीजीको ही देखा था, न पांडवों को ही। पांडव जीवित हैं इस बातको वे किसी पर भी प्रकाशित करना नहीं चाहते थे।

इधर पांडव जब लाक्षा गृहसे बच गये, तो गंगा पार होकर वे एक सघन वनमें घुस गये। वहाँ भीमसेनने हिडम्ब नामक राक्षसको मार कर उसकी बहिन हिडम्बामें उसकी प्रार्थना पर और माताजीकी आज्ञासे गान्धर्व विवाह किया। उसके घटोत्कच पुत्र हुआ। इस प्रकार वे वेष छिपाये एक वनसे दूसरे वनमें घूमने लगे। वे मत्स्य देश, पाञ्चाल देश, त्रिगर्त देश तथा कीचकादि देशोंमें घूमते फिरते व्यासजीके कहनेसे वे एकचक्रा नामकी नगरी में रहने लगे। इन पाँचों भाइयोंने सिर पर बड़ी बड़ी जटायें रखा ली थीं। वे मृगचर्म ओढ़ते और पहिनते थे। उन्होंने तपस्वी ब्राह्मणका वेष बना लिया था। एकचक्रा नगरी में वे भिक्षासे निर्वाह करते थे।

यहीं इन लोगोंने द्रौपदीके स्वयंवर की बात सुनी, अतः भिक्षा माँगते खाते वे महाराज द्रुपदकी राजधानीमें आये। महाराज

द्रुपदको अग्निकुंडसे उत्पन्न हुई अयोनिजा एक परम सुन्दरी द्रौपदी कन्या थी। उसके स्वयम्वरमें यह पण था, कि जो ऊपर चक्रमें घूमती हुई मछली को वेध देगा, उसी के साथ कन्या का विवाह होगा। अर्जुनको विश्वास था मैं मत्स्यवेध कर दूँगा, इसी लिये वे अपनी माता और भाइयों सहित पांचाल देशमें आये थे। महाराज द्रुपदने स्वयम्वरकी बड़ी तैयारियाँकी थीं, देश विदेश से बहुतसे राजा राजकुमार आये थे। द्रौपदीके रूपकी सर्वत्र ख्याति थी। पांडवोंका वहाँ किसीसे परिचय तो था नहीं वे एक कुम्हारके घरमें ठहर गये। राजा द्रुपदने ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के बैठनेके लिये पृथक् पृथक् मर्यादानुसार स्थान बना रखे थे। दुर्योधन, कर्ण, श्रीकृष्ण, बलराम सभी उस स्वयम्वरमें सम्मिलित हुए। वे सब तो राजाओंके मंचों पर बैठे थे। पांडव आकर ब्राह्मणोंमें बैठ गये। सबने अपने मुखोंपर जटाओं और दाढ़ियों में राख लपेट रखी थी, पाँचों एक साथ भी नहीं बैठे। इसलिये कोई भी उन्हें पहिचान न सका। किसीको सन्देह होता तो पहिचानते! सबको तो विश्वास था, पांडव मर गये। किन्तु सर्वज्ञ श्रीकृष्णने उन्हें पहिचान लिये। वे शनैः शनैः अपने भाई बलरामजीसे बोले—"दादा! देखो, वे ब्राह्मणोंमें हमारे फूआके लड़के पाँचों पांडव वेष छिपाये बैठे हैं। वे दो मुनियों के बीच में गम्भीरसे धर्मराज युधिष्ठिर हैं, वे भीमसेन हैं, गांडीवधनुर्धारी अर्जुन हैं, वे दोनों पास में अति सुन्दर मुख पर राख लपेटे अश्विनी कुमारोंके वीर्यसे उत्पन्न परम रूपवान नकुल और सहदेव हैं। भगवानके कहनेसे बलदेव जी भी पाँचों पांडवोंको पहिचान गये।

भगवान्को तो विवाह करनेका रोग हो गया था, जहाँ भी कहीं विवाहका ढोलढ ल देखते वहीं दौड़े जाते। यहाँ भी विवाह के ही निमित्त आये थे। उनके लिये मछली के लक्ष्यको वेध देना

क्या कठिन था। जब कर्ण, दुर्योधन, शाल्व, अंग, वंग, कलिङ्ग तथा अन्यान्य देशों के राजकुमार हार गये और लक्ष्य वेध न कर सके, तब भगवान् चाहते तो लक्ष्य वेध करके तुरन्त द्रौपदी को अपना लेते, किन्तु उन्होंने सोचा—"मेरे तो तीन विवाह हो ही चुके हैं। इसे पाँचों पांडवों के लिए छोड़ दो।' यही सोचकर वे नहीं उठे। अर्जुन उठे और उन्होंने लक्ष्य वेध कर दिया और द्रौपदी को लेकर चलते बने। सब देखते के देखते ही रह गये। राजाओं ने ईर्ष्यावश महाराज द्रुपद पर प्रहार करना चाहा, किन्तु भीम और अर्जुन ने उन्हें हरा दिया पांडव द्रौपदी को लेकर कुम्हार के घर चले गये।

पीछे से चुपके से अँधेरा होने पर किसी दूसरे मार्ग से बलरामजी के सहित भगवान् पांडवों के डेरे पर—कुम्हार के घर में पहुँचे। जाते ही उन्होंने पृथिवी पर बैठी मलिन वस्त्र धारण किये अपनी बूआ कुन्ती के पैर छुए और धर्मराज युधिष्ठिर के पैर छुए। कुन्तीजी अकस्मात् किसी को अपने पैर छूते देखकर सहम गईं। अभी तक उन्होंने श्रीकृष्ण के दर्शन नहीं किये थे। भगवान् ने कहा—"बूआजी मैं वसुदेवजी का छोटा पुत्र हूँ। मेरा नाम कृष्ण है, ये मेरे बड़े भाई बलरामजी हैं। इस पर बलरामजी ने भी कुन्तीजी और युधिष्ठिर के पैर छुए।

कृष्ण का नाम सुनते ही कुन्तीजी ने उन्हें हृदय से चिपटा लिया। अपने नेत्रों के अश्रुओं से उनके सम्पूर्ण पीताम्बर को भिगो दिया। वे कुछ कहना चाहती थीं, किन्तु वाणी गद् गद् हो जाने से कुछ कह नहीं सकती थीं। बड़े कष्ट से उन्होंने कहा—"वासुदेव! इस विपत्ति में भी आप हमें नहीं भूले। आपका ही तो हमें सहारा है।" फिर भीम और अर्जुन कृष्ण बलराम से गले लगा कर मिले। नकुल सहदेव ने दोनों के पैर छुए।

धर्मराज ने आँखों में आँसू भर कर कहा—"वासुदेव! हमने

तो अपना बहुत वेष छिपाया था, किन्तु आपने हमें पहिचान ही लिया।"

भगवान् ने कहा—"अग्नि कहीं छिपाने से छिप सकती है। सूर्य चन्द्रमा कहीं छतरी से छिप सकते हैं। धरा धाम पर पांडवों के अतिरिक्त दूसरा कौन ऐसा पराक्रम कर सकता है। आप लोग घबरावें नहीं आपका पुनः अभ्युदय होगा। फिर अच्छे दिन आवेंगे।"

धर्मराज ने कहा—"वासुदेव! आपकी कृपा बनी रहे दिन तो सब अच्छे ही हैं।

भगवान् ने कहा—"अच्छा, अब आज्ञा दीजिये अभी आप छिपे ही रहें।"

यह कह कर भगवान् बलदेवजी के सहित अपने डेरे पर चले गये। पांडवों का परिचय पाकर द्रुपद परम प्रसन्न हुए, उन्होंने व्यासजी के कहने से पांडवों के साथ द्रौपदी का विधिवत् विवाह कर दिया। महाराज द्रुपद से सम्बन्ध हो जाने से तथा पांडवों का वैभव बढ़ जाने से कौरव डर गये। धृतराष्ट्र ने पांडवों को सत्कार पूर्वक बुलाया। उनको आधा राज्य दे दिया पांडव इन्द्र प्रस्थ में अपनी राजधानी बना कर रहने लगे।

पांडवों को कहने को आधा राज्य दिया था। वास्तव में उनके पास कुछ भी नहीं था। इन्द्र प्रस्थ एक घोर अरण्य था धर्मराज ने वहाँ एक किला बनवाया। समाचार सुनते ही पांडवों को देखने के लिये भगवान द्वारकापुरी से तुरन्त इन्द्र प्रस्थ में आ गये। भगवान् के साथ में सत्यकि आदि और भी बहुत से यादव थे।

भगवान् को आते देख कर पांडवों के रोम रोम खिल उठे। जैसे मृतक देह में सहसा प्राण आने से प्रसन्नता होती है, वैसे ही सबके मुखों पर प्रसन्नता छा गई। प्रधान प्राण के आने से पचेन्द्रियाँ जिस प्रकार सचेष्ट हो जाती हैं उसी प्रकार सर्वेश्वर श्यामसुन्दरको

देखकर पाँचों पांडव संभ्रम के साथ उठ कर खड़े हो गये। बड़े होने के नाते भगवान् ने धर्मराज और भीमसेन के पैर छुए, अर्जुन को हृदय से लगाया और नकुल सहदेव ने उन्हें प्रणाम किया। सभी ने भगवान का गाढ़ालिङ्गन किया भगवान् के अङ्ग सङ्ग से उन सब भाइयों के सभी अशुभ नष्ट हो गये। मदन मोहन का मन्द मन्द मुसकान मय मधुर मुखारविन्द निहार कर तथा उनकी प्रणय पूर्ण चितवन को देख कर पांडव मारे हर्ष के आपेसे बाहर हो गये। तुरन्त भीतर समाचार दिया गया। द्रौपदी अभी अभी विवाह हो कर आई थी। नववधू जैसे सकुचाती, लजाती गुड़मुड़ी-सी मारे अपने आप में घुसी सी आती है वैसे ही द्रौपदी आई। उन्होंने वस्त्रों को समेट कर लज्जापूर्वक शनैः शनैः श्रेष्ठ सिंहासन पर विराज मान श्यामसुन्दर के समीप जाकर उन्हें सादर प्रणाम किया। भगवान् ने भी मन्द मन्द मुसकरा कर उनका सम्मान किया।

धर्मराज ने सात्यकि आदि समस्त यादवों का भी उसी प्रकार सम्मान किया। पांडवों से सत्कृत होकर वे सब भी यथा योग्य सुन्दर सुन्दर आसनों पर भगवान् को घेर कर बैठ गये। सहसा भगवान अपने आसन से उठकर खड़े हो गये बोले—"बूआजी भीतर है न ? मैं प्रणाम करने भीतर जाऊँगा।"

धर्मराज ने अत्यन्त ही स्नेह से कहा—"यदुनन्दन ! पूछने की क्या आवश्यकता है, आपका घर है चलिए।"

यह कह कर आगे आगे धर्मराज चले पीछे सेवकों और पांडवों से घिरे हुए यादवेन्द्र चले। अतःपुर में पहुँच कर भगवान् ने अपनी बूआ कुन्ती के पैर छुए उन्हें प्रणाम किया। श्यामसुन्दर की काली-काली कुटिल अलकावली के स्पर्श से कुन्तीजी का रोम रोम खिल उठा। उनके नेत्रों से झर झर आँसू बहने लगे। भगवान को वे बड़ी देर तक अपने हृदय से लगाये रहीं।

उन्होंने अश्रु पोंछ कर कहा—"श्यामसुन्दर ! द्वारका से कब चले थे ? द्वारका में सब कुशल हैं न ? मेरे भाई, सब भाभियाँ, तुम्हारी बहुएँ सब कुशल पूर्वक तो हैं न ? हमारे बन्धुबान्धव तथा कुल परिवार वाले सब अच्छे तो हैं ?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, बूआजी ! सब आपका आशीर्वाद है। सब कुशल पूर्वक हैं। आपका स्वास्थ तो अच्छा है न ? तुम्हारी बहू तो अच्छी है ? तुम्हारी बात मानती है न ? और सब लोग तो कुशल हैं न ?"

भगवान् की यह बात सुनते ही कुन्तीजी का हृदय भर आया प्रेम और शोक की विकलता के कारण उनका कंठ अवरुद्ध हो गया, नेत्रों से निरंतर नेह का नीर निकल रहा था मानों प्रेमाश्रुओं की बाढ़ आ गई हो। कौरवों के कारण इस वृद्धावस्था में पुत्रों के सहित उन्होंने जो जो क्लेश पाये थे उन सबका स्मरण करती हुई कुन्तीजी केशि को मारने वाले क्लेशहा श्रीकृष्ण के सम्मुख करुण स्वर से रुदन करने लगीं और रोते रोते कहने लगीं—"वासुदेव ! क्लेश तो हमारे बन्धु हैं सहोदर हैं। जब मैं माता के गर्भ से उत्पन्न हुई थी तभी क्लेश मेरे साथ ही उत्पन्न हुए। ये क्लेश इतने प्रेमी हैं, कि इन्होंने कभी मेरा साथ नहीं छोड़ा। जन्म के माता पिता को छोड़ कर अन्यत्र जाना पड़ा। वहाँ भी नाना भाँति के क्लेश सहने पड़े। जब विवाह होकर हस्तिनापुर आई, तो वहाँ भी क्लेशों ने साथ दिया। पति के साथ गंधमादन पर्वत पर रही, वहाँ भी क्लेशों के सहित ही हमने जीवन बिताया। पति देव क्लेशों के हाथों हमें सौंप कर परलोक प्रयाण कर गये। इन बच्चों के पीछे क्लेश सहती रही। दयालु मुनियों ने हम पर कृपा की। हमें हस्तिनापुर छोड़ गये। कौरवों द्वारा जो क्लेश दिये गये, उन्हें स्मरण करके रोमाञ्च हो उठते हैं, किन्तु उन क्लेशों में एक आशा की झलक दिखाई दी। ।न मेरे भाई अक्रूर को भेजकर हम सबकी कुशल पुछवाई। उसी से मैंने समझ लिया मेरे कष्टों का अन्त हो गया। क्रूरोंकी

ीने बार बार धन्यवाद दिया, जिनके कारण आपको हमारी याद प्राई। अब हमें क्लेश सहनेका अभ्यास हो गया है। आप इस ंपूर्ण चराचर विश्वके स्वामी हैं सब भूतोंके सच्चे सुहृद् हैं, सब की आत्मा हैं इसीलिये लोग आपको परमात्मा कहते हैं। आपके लिये न कोई अपना है न पराया। जो लोग सदा आपका स्मरण करते हैं, उनके हृदयमें विराजमान होकर आप उनके दुःखोंको दूर करते हैं। हे अप्रमेयात्मन्! आपको मैं प्रणाम करती हूँ।"

भगवान्‌ने कहा—"बूआजी! न जाने आप क्या राग अलापने लगीं। अच्छा मैं अब दूरसे आया हूँ। स्नानादिसे निवृत्त होऊँ।"

कुन्तीजीने कहा—"हाँ वासुदेव! आप स्नान करें। हाय! मैं यह सब तो भूलही गई स्नान करके प्रसाद पावें। मैं भी चौके की ओर जाती हूँ।"

यह कहकर भगवान स्नानादिके लिये चले गये। कुन्तीजी भगवान्‌के भोगका प्रबन्ध करने लगीं। धर्मराज श्यामसुन्दरके साथ छायाकी भाँति लगे हुए थे। मना करने पर भी धर्मराज स्नेह वश सब काम स्वयं ही करते। आज जब हमारा कोई सहायक नहीं हमारी कोई स्थिति नहीं, उस समय भी सब प्रकारकी सहायता करने यादवोंके सहित यादवेन्द्र स्वयं ही बिना बुलाये ही आ पहुँचे हैं। इस बातको स्मरण कर करके धर्मराजका हृदय प्रेमके कारण बाँसो उछल रहा था। श्यामसुन्दरकी त्रैलोक्य विमोहिनी छविको निहार कर वे प्रेमाश्रु बहाते हुए कहने लगे—"श्यामसुन्दर। हे सर्वेश्वर! इस जन्ममें तो हमसे कोई पुण्य कर्म अभी तक बन नहीं सका है, किन्तु अवश्य ही पूर्व जन्ममें हमने कोई ऐसा महान् पुण्य कर्म किया होगा जिसके कारण हमें सुगमतासे घर बैठे आपके दर्शन हो रहे हैं। बड़े बड़े योगेश्वर भी सहस्रों लाखों वर्षों तक जप, तप यज्ञानुष्ठान करके आपके दर्शन ——

तासे नहीं पा सकते, सो हम कुबुद्धियोंको वे अपने आप ही रहे हैं। घर बैठे गंगा आगई हैं।" इतना कहते कहते धर्मराजके नेत्र श्रावण भाँदोंके मेघों के समान बहने लगे।

इस प्रकार धर्मराजने भगवान् के प्रति अत्यधिक प्रेम प्रदर्शित किया। उन्हें आँखों की पुतलियोंकी भाँति बड़े आदर से रखा। कई दिनों तक भगवान् इन्द्रप्रस्थ निवासियोंके नयनोंको आनंदित करते हुए वहाँ बड़े सम्मानके साथ रहे। फिर भगवान्ने कहा—"धर्मराज ! आज्ञा हो, तो मैं द्वारकापुरीको जाऊँ।"

आँखों में आँसू भर कर धर्मराजने कहा—"वासुदेव ! हमें एक मात्र आपका ही सहारा है, आप हमारे बाह्य प्राण हैं। मेरी इच्छा है, वर्षाके चार महीनों तक आप यहीं निवास करें। अभी तो हमारी यहाँ कोई स्थिति ही सुदृढ़ नहीं है।"

भगवान् ने कहा—"महाराज ! मेरे द्वारा आपकी कुछ सेवा हो सके, इसे मैं अपना सौभाग्य समझूँगा। मुझे क्या मेरे लिये जैसी ही द्वारका वैसा ही इन्द्रप्रस्थ। यहाँ तो मुझे आपका प्रेम और अर्जुनका सहवास ये दो अपूर्व वस्तु प्राप्त हैं। आपकी आज्ञा है तो मैं रहूँगा।"

यह कह कर भगवान्ने कुछ यादवोंको द्वारकाजी भेज दिया और वर्षाके चार महीनें सात्विकी आदिके साथ इन्द्रप्रस्थ में ही रह गये। इन चार महीनों में भगवान् ने पांडवोंकी राजधानीको सर्व श्रेष्ठ राजधानी बना दिया। जहाँ उनकी राजधानी थी, वहाँ बड़ा भारी खांडवप्रस्थ नामक वन था, उसमें बड़े बड़े सर्प, दानव और अन्य वन के जन्तु रहते थे। एक दिन अग्निदेवने ब्राह्मण वेप में आकर श्रीकृष्ण और अर्जुनसे उस वनको जलानेकी प्रार्थना-की। भगवान्ने जलानेकी आज्ञा दे दी। सम्पूर्ण वन जलने लगा। इस पर इन्द्र लड़ने आये। भगवान्की सहायतासे अर्जुनने उन्हें परास्त किया। सम्पूर्ण वनको जलाकर धूम्रकेतु अग्निदेव सन्तुष्ट

हुए। उन्होंने अर्जुन के लिये प्रसन्न होकर गाण्डीव धनुष, चार श्वेत वर्ण के घोड़े एक सुवर्ण मंडित दिव्य रथ, दो अक्षय तरकस और जो किसी भी शस्त्रधारी से न वेधा जा सके ऐसे एक कवच ये सभी वस्तुएँ प्रदान की।

जिस समय खाण्डव दाह हो रहा था, उस समय भगवान् के कहने से अर्जुन ने मय दानव रक्षा की थी। वह मय असुरों का शिल्पी था। उसने अर्जुन से प्रार्थना की—"आपने मुझे प्राणों का दान दिया है। इसके उपलक्ष में आपकी मैं क्या सेवा करूँ।"

अर्जुन ने कहा—मुझे तो तुम्हारी कुछ भी सेवा नहीं चाहिये। यदि तुम्हारा बहुत ही आग्रह है तो भगवान् का जाकर कोई प्रिय कार्य दो।"

मय दानव भगवान् के पास गया। उसने उनसे भी यही प्रार्थना की। भगवान् अत्यन्त हर्ष के साथ बोले—"मेरा सबसे प्रिय कार्य यह है कि मैं धर्मराज को अत्यन्त समृद्धिशाली और प्रसन्न देखना चाहता हूँ। उनके यहाँ कोई अच्छी-सी राजसभा नहीं है, अतः उनके लिए तुम जितनी सुन्दर बना सकते हो उतनी सुन्दर एक सभा बना दो।"

भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य करके शुभ मुहुर्त में मयासुर ने सभा भवन की नींव डाली। दूर दूर से मणि माणिक्य लाकर उसने उसमें लगाये थे। वह पूरी सभा दस सहस्र हाथ के घेरे में बनी थी उसके सम्मुख इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, चन्द्र तथा ब्रह्माजी की सभायें फीकी फीकी लगती थीं। यहाँ तक कि श्रीकृष्णचन्द्र की सुधर्मा सभा से वह अच्छी थी। वह इतनी ऊँची थी मानों आकाश से बातें कर रही हो, आठ सहस्त्र दानव उसकी रक्षा करते थे और उसे जहाँ चाहें तहाँ ले जा सकते थे। उसमें नलिनी कमलों का एक सरोवर बनाया गया था। उसकी सोपान स्फटिक मणियों की थीं। एक ऐसा भी स्थान नील

का बनाया था, जहाँ जल तो था नहीं किन्तु जल का भ्रम होता था। एक ऐसा स्थल था, जिसमें जल तो भरा हुआ था किन्तु समभूमि दिखाई देती थी। इसी स्थान पर दुर्योधन को जल में स्थल का और स्थल में जल का भ्रम हुआ था। उस सभा को देखकर सभी आश्चर्यचकित हो गये। खाण्डवप्रस्थ का सम्पूर्ण सघन वन भी जलने से सुन्दर स्थान बन गया। उसमें खेती होने लगी। धर्मराज की राजधानी भगवान् के निवास से परम समृद्धिशालिनी बन गयी।

भगवान् की अर्जुन से परम मैत्री थी। दोनों साथ ही खाते थे, साथ ही रहते थे और साथ ही घूमने फिरने जाते थे। ऐसा लगता था मानों एक प्राण दो शरीर में साथ साथ संचार कर रहे हैं। श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन को अत्यधिक प्यार करते थे और अर्जुन श्यामसुन्दर को अपना सर्वस्व समझते थे। दोनों परस्पर में हँसते खेलते और यमुना किनारे जाकर बहुत सा समय बिताते।

एक दिन की बात है कि भगवान् ने कहा—"अर्जुन चलो आज दूर यमुना किनारे आखेट के लिये चलें।"

अर्जुन तो यह सदा चाहते ही रहते थे, श्रीकृष्ण से एकांत में बैठकर प्रेम की मीठी मीठी घुल घुल कर बातें करें। भगवान् की आज्ञा पाते ही उन्होंने तुरन्त सारथी को अपना विशाल वानर ध्वज वाला रथ जोड़ कर लाने की आज्ञा दी। अर्जुन की आज्ञा पाते ही सारथी अग्निप्रदत्त सुवर्ण मंडित दिव्य रथ जोड़ कर सम्मुख उपस्थित हुआ। तब शत्रुओं को दमन करने वाले वीर वर अर्जुन दिव्य कवच धारण करके अपने गांडीव धनुष तथा अक्षय बाण पूर्ण दो तूणीरों को लेकर हंसते हुए भगवान् के साथ रथ में आकर बैठ गये। और भी बहुत से सेवक सैनिक साथ थे। सब को साथ लिये हुए, भगवान् कुछ ही काल में यमुना तटवर्ती एक [illegible] वन में-जिसमें बहुत से सिंह व्याघ्रादि रहते थे साथियों के

साथ गये। वहाँ उन्होंने बहुत से व्याघ्र, सूकर, भैंसे, कृष्णमृग शरभ, गेंडे, हरिण, शशक, स्याही तथा अन्यान्य वेध्य पशुओं को अपने बाणों से बींधा। उनमे से बहुत से मारे हुए पवित्र पशुओं को श्राद्ध के निमित्ति सेवक गण धर्मराज युधिष्ठिर के निकट ले गये।

धूप से अत्यन्त परिश्रम करते करते अर्जुन थक गये थे। उन्हें प्यास भी लगी हुई थी। इसलिए वे भगवान् के साथ यमुना तट पर आये। और सब सेवक सैनिक दूसरे स्थानों में बैठकर विश्राम करने लगे। यमुना तट पर आकर दोनों ने हाथ पैर धोये कांच के सदृश सुन्दर स्वस्थ कालिन्दी के जल को दोनों ने भरपेट पिया और फिर एक सघन वृक्ष के नीचे बैठकर दोनों प्रेम की मीठी मीठी बातें करने लगे। उस समय दोनों ने देखा, एक अत्यंत ही सुन्दरी युवती यमुना तट पर घूम रही है। इन श्याम सुन्दर की दृष्टि तो सदा चंचल रहती ही है। देखते ही वे समझ गये, यह किसी ताड़ में है। आप गम्भीर होकर अर्जुन से बोले— "भैया! अर्जुन! यह लड़की इधर से उधर चक्कर क्यों काट रही है। यह कौन है? इस वन में अकेली क्यों घूम रही है तनिक जाकर देखो तो सही। पूछो इससे यह कौन है?"

अर्जुन तो भगवान् के मन की बात जान ही लेते थे। वे हँस कर बोले—"कोई हो, आपको क्या प्रयोजन। वह अपने आनंद में मग्न है हम अपने में।

भगवान् बोले—"ना, भैया! अपने शरीर से जिसका भी उपकार हो जाय, अच्छा ही है। प्रतीत होता है, यह कुछ चाहती है। तभी तो इधर से उधर चक्कर लगा रही है।"

अर्जुन अपनी हँसी को रोक कर बोले—"अच्छी बात है महाराज! जाता हूँ। आप यहीं बैठे रहें।" यह कहकर अर्जुन उस कन्या के पास पहुँचे। वह अत्यन्त ही सुन्दरी थी, उसके अंग

प्रत्यंग से यौवनकी आभा झलक रही थी उसके दाँत सुन्दर स्वच्छ और चमकीले थे। उसका मुख पूर्ण चन्द्र के समान विकसित था। वह वर वर्णिनी परम सुकुमारी और सुशीला थी। अर्जुन उसके समीप जाकर पूछा—"हे सुश्रोणि ! तुम कौन हो ?"

लजाते हुए उस रमणी ने कहा—"हे वीर ! मैं भगवान् भुवन भास्कर श्री सूर्यदेव की पुत्री हूँ।"

अर्जुन ने पूछा—"आपका विवाह हुआ या नहीं ?"

अत्यन्त ही लज्जा के साथ उस सुकुमारी ने यह प्रश्न सुनकर सिर हिला दिया। मुख से कुछ भी नहीं कहा। वह अपने नख से भूमि को कुरेदती हुई नीचा सिर करके खड़ी रही।

बात आगे चलाने के लिए अर्जुन ने पूछा—"अच्छा, यहाँ एकान्त वन में आप कैसे घूम रही हैं ? यहाँ आप क्या करती हैं ?"

कन्या ने कहा—"मेरे पिता ने इस यमुना के जल में मेरे लिये एक भवन बना दिया है उसी में रह कर मैं तपस्या करती हूँ। यह जो यमुना का जल दीखता है, यह भी मेरा ही रूप है। मैं इस यमुना की अधिष्ठातृ देवी हूँ। अपने पिता के बनाये हुए भवन में रह कर सहस्रों वर्षों से मैं घोर तपस्या कर रही हूँ।"

अर्जुन ने कहा—"मैं यह पूछ सकता हूँ, कि आपकी तपस्या का उद्देश्य क्या है ? किस कारण आप इतने दिनों से इस यमुना जल के भीतर रह कर तप कर रही हैं।

कन्या ने कहा—"जब मैं सयानी हुई, तब मेरे पिता सूर्यदेव ने मेरा विवाह करना चाहा। मैंने लज्जा, छोड़कर उनसे कह दिया—"पिताजी ! मैं तो लक्ष्मीजी के आश्रय श्रीमन्नारायण भगवान् को छोड़ कर किसी अन्य को अपना पति' नहीं बना सकती मेरे तो वे ही वरेण्य विष्णु वर बनेंगे।"

मेरे पिता ने कहा—"बेटी ! भगवान् को प्राप्त करना तो बड़ा

कठिन है, फिर भी तू घोर तपस्या कर वे भक्त वत्सल भगवान् तुझ पर अवश्य कृपा करेंगे।" पिताजी की आज्ञा मान कर मैं तभी से उन अच्युत को पाने के निमित्त घोर तप कर रही हूँ। जब तक मुझे उनकी प्राप्ति न होगी, तब तक यहीं यमुना जल में रह कर मैं तपस्या करती रहूँगी।" वे शरणागत वत्सल दीन बन्धु दीना नाथ प्रभु मुझपर प्रसन्न हों।"

इस पर अर्जुन ने कहा—"भगवान् को पाना तो अत्यन्त ही कठिन है।"

कन्या ने कहा—"कठिन हो अथवा सरल मेरी तो यह दृढ़ प्रतिज्ञा है जब तक मुझे अघहारी अच्युत का दर्शन न होगा, जब तक वे मुझे अपनी शरण में न लेंगे, तब तक मैं इसी प्रकार इसी भवन में बनी रहूँगी। दूसरा कोई मेरा पति हो ही नहीं सकता।"

यह सुनकर अर्जुन भगवान् के समीप लौट कर आये और बोले—"महाराज! आपकी तो बृहस्पति की दशा आज कल चेत रही है। करते चलो विवाह के ऊपर विवाह। यह तुम्हारी भावी पत्नी है। करो ब्याह की तैयारियाँ। इन्द्र प्रस्थ में ही हो धूम धड़ाका।"

यह सुनकर सर्वज्ञ भगवान् बोले—"अरे भाई! विवाह तो हमारे हो गये हैं, किन्तु जब उसकी ऐसी ही आग्रह है तो कोई बात नहीं। निभानी ही पड़ेगी। चलो, बैठाओ रथ में। यह सुन कर अर्जुन खिलखिलाकर हँस पड़े और कालिन्दी के समीप जाकर बोले—"भाभी! तुम्हारी मनोकामना पूर्ण हुई। तुम्हें तुम्हारी तपस्या का मूर्तिमान् फल मिल गया। आ जाओ रथ पर बैठ जाओ।" यह सुनकर कालिन्दी रथ के निकट आई। श्यामसुन्दर के दर्शन करते ही उसके रोम रोम खिल उठे। भगवान् की आज्ञा पाते ही वह रथ में बैठ गई। इस प्रकार भगवान् सूर्यतनया को

रथ में बिठाकर धर्मराज युधिष्ठिर के समीप आये और उनसे सब वृत्तान्त कहा। सुनते ही धर्मराज हँस पड़े और बोले—"मैं सोच ही रहा था, कहीं भगवान् को यहाँ से रिक्त हस्त न लौटना पड़े, सो सर्व कर्मों के साक्षी जगत् पति भगवान् मरीचिमाली ने मेरी प्रार्थना सुनली। यहीं हो विवाह।"

भगवान् सकुचाते हुए बोले—"अजी, अब यहाँ क्या होगा। अब तो कातिक है। अगहन पौष में विवाह होगा नहीं, माघ में देखा जायगा। मुझे बहुत दिन हो गये हैं। आपका भी कार्य सब हो गया है अब मुझे आज्ञा मिलनी चाहिये।

भगवान् के जाने की बात सुनकर सभी को बड़ा दुःख हुआ। किन्तु अब तो जाना ही था विवाह की चटपटी लगी थी। अतः धर्मराज अर्जुन तथा अन्यान्य सुहृदों की अनुमति लेकर सात्यकि

आदि के साथ भगवान् पुनः द्वारकापुरी में आ गये। नई बहू के साथ भगवान् को देख कर सभी को बड़ा हर्ष हुआ। शुभ लग्न और शुभ मुहूर्त आने पर सुन्दर ऋतुपुण्य नक्षत्र देख कर बड़ी धूम धाम के साथ भगवान्‌ने कालिन्दी का पाणिग्रहण किया। सम्पूर्ण द्वारकामें आनन्दोत्सव मनाया गया। ब्राह्मणोंको, गायकों को तथा आश्रितोंको दान दिये गये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियों! इस प्रकार भगवान्‌का चौथा विवाह सूर्य कन्या कालिन्दीके साथ हुआ। अब जैसे पाँचवाँ विवाह हुआ उसका वृत्तान्त श्रवण कीजिये।"

छप्पय

कृष्णचन्द्र सर्वज्ञ जानि ताकी अभिलाषा।
अर्जुन तैं बुलवाय पूर्ण कीन्ही तिहि आशा॥
रथ महँ संग बिठाय युधिष्ठिर के ढिग आये।
कालिन्दी रविसुता निरखि सब जन हरषाये॥
आइ द्वारका महँ वरी, भये ब्याह यों चार अब।
छठे पाँचवें ब्याह को, मुनि! वरणौं वृत्तान्त सब॥

———

भगवान्‌का पाँचवाँ और छटा विवाह

(११०५)

राजाधिदेव्यास्तनयां मित्रविन्दां पितृष्वसुः ।
प्रसह्य हृतवान्कृष्णो राजन् राज्ञां प्रपश्यताम् ॥*
(श्री भा० १० स्क० ५८ अ० ३१ श्लो०)

छप्पय

देश अवन्ति प्रसिद्ध भूप जयसेन वहाँके।
परम रम्य वन, नगर, शैल, सर दुर्ग तहाँके॥
हरि फूआको ब्याह भयो जयसेन नृपति तैं।
बिन्द और अनुविन्द भये द्वै खल सुत तिनि तैं॥
सुता मित्र बिन्दा हती, हरिके मन पै चढ़ि गई।
किन्तु सुयोधन मानिसिख, भाइनि नाहीं करि दई॥

भगवान् जिसे वरणकर लेते हैं, वह कृत कृत्य हो जाता है। जिसे वे वरण करना चाहते हैं, वही उन्हें प्राप्त भी कर सकता है। प्रभुकी प्राप्तिमें बड़े बड़े विघ्न होते हैं। अन्य लोग ही आकर विघ्न करें सो बात नहीं अपने कहानेवाले भी आकर मार्गमें रोड़े अटकाते हैं। अनेकों बाधायें उपस्थित करते हैं, किन्तु भगवान्

---

*श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन्! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अपनी फूआ राजाधिदेवीकी पुत्री मित्रविन्दाका सब राजाओं के देखते देखते बलात्कारसे हरण कर लिया।"

उन सब बाधाओंको मेंट देते हैं। वे स्वयं आकर समस्त शत्रुओं-के सिरपर पैर रखकर स्वयं वरण कर लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके कुन्ती, श्रुतदेवा, श्रुतकीर्ति श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी ये पाँच फूआयें थीं। इनमेंसे कुन्तीजीका विवाह तो महाराज पांडुके साथ हुआ ही जिनके पांडव पुत्र थे। श्रुतदेवाका विवाह करूपदेशके राजा वृद्धशर्म्माके साथ हुआ। जिससे महाखल पुत्र दन्तवक्र हुआ जो पूर्वजन्ममें हिरण्याक्ष था। तीसरी फूआ श्रुतकीर्तिका विवाह केकय देशके राजा धृष्टकेतुके साथ हुआ जिससे सन्तर्दन आदि पाँच पुत्र और भद्रा नामकी एक कन्या हुई। चौथी श्रुत-श्रवाका विवाह चेदिदेशके राजा दमघोष के साथ हुआ, जिसका पुत्र शिशुपाल था, जिसके साथ रुक्मिणीजीकी सगाई हुई थी। पाँचवी फूआ राजाधिदेवी थी, उसका विवाह अवन्तीदेश के राजा जयसेनके साथ हुआ। जिनसे विन्द और अनुविन्द दो पुत्र और मित्रविन्दा नामकी एक कन्या उत्पन्न हुई।

दक्षिण देशका लोकाचार है कि वहाँ मामा और फूफी के लड़का और लड़कियोंमें परस्पर विवाह हो जाता है। यही नहीं फूआका लड़का मामाकी लड़की पर अपना अधिकार समझता है। जब तक वहिनका लड़का मिले तब तक भाई अपनी लड़कीका विवाह दूसरे लड़के से करना उचित नहीं समझता। मामाका लड़का भी अपनी फूआको लड़की से विवाह कर लेता है। अवन्ती-नरेश महाराज जयसेन अपने लड़का लड़कियोंको छोटी ही अव-स्थामें छोड़कर परलोकवासी बन गये। उनके दोनों पुत्र विन्द और अनुविन्द अभी प्राप्तवयस्क भी नहीं हुए थे। इसलिये दुर्योधनने अवन्ति राज्यको अपने अधीनकर लिया था विन्द और अनुविन्दको अपना मण्डलीक राजा बना लिया था। ये दोनों अधिकतर दुर्योधनके ही यहाँ रहकर उसकी

पालन करते थे। इन दोनोंकी छोटी बहिन मित्रविन्दा जब विवाह के योग्य हुई, तो उसने अपने मामा वसुदेवजी के पुत्र श्रीकृष्ण-चन्द्रके दर्शन किये। उनके रूप लावण्य को देखकर मित्रविन्दाने मन ही मन उन्हें आत्मसमर्पणकर दिया। वह नित्य यही भगवान्से प्रार्थना करती—कि भगवान् वासुदेव ही मेरे पति हों।"

भगवान् तो अन्तर्यामी हैं। सबके घट घटकी बात जाननेवाले हैं। मित्रविन्दाके स्नेहको समझकर उन्होंने भी मन ही मन उसे वरणकर लिया। अंगोंमें लगा इत्र और मनमें उत्पन्न प्रेम छिपानेसे छिपता नहीं। यह बात सर्वत्र फैल गई कि भगवान् मित्र-विन्दाके साथ विवाह करना चाहते हैं। मित्रविन्दा इतनी सुन्दरी थी कि जिसकी उपमा किसीसे दी ही नहीं जा सकती। दुर्योधन चाहता था। मैं इसके साथ विवाह करूँ। इसलिये उसने विन्द और अनुविन्दसे कह दिया—"देखो, तुम अपनी बहिनका स्वयं-वर करो उसमें वह श्रीकृष्णको कभी भी वरण न करे। इस बातको कह देना और उसे डाँट डपटकर मनाकर देना।"

विन्द अनुविन्द उसके अभिप्रायको समझ गये उन्होंने भी सोचा—"दुर्योधन राजा है, अच्छा है हमारी बहिनका विवाह उसीके साथ हो जाय।" ऐसा निश्चय करके उन्होंने अपनी बहिनसे बलपूर्वक कह दिया कि वह स्वयम्बरमें दुर्योधनको ही वरण करे, श्रीकृष्णको कभी भी वरण न करे।"

यह बात मित्रविन्दा के मनमें न बैठी। वह तो प्रथम ही अपना सर्वस्व श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों में अर्पणकर चुकी थी। वह प्राण रहते अन्य किसीको वरणकर नहीं सकती थी, साथ ही वह अपने भाइयों की आज्ञाको भी उल्लंघन नहीं कर सकती थी। अतः वह बड़े धर्म संकटमें पड़ी और मन ही मन भगवान्से प्रार्थना करने लगी। भगवान् उसकी प्रार्थनाको स्वी—

कार करके स्वयम्वरमें गये। यह स्वयम्वर तो एक नाम मात्रका था, पहिलेसे ही निश्चय था कि मित्रविन्दाका विवाह दुर्योधनके साथ होगा। अतः उसके पक्षपाती बहुत से राजा सैन्य सजाकर आये थे। इधर भगवान् भी अपने दिव्यरथमें बैठकर अवन्ति-पुरीमें गये। सब राजा भगवान्को देखकर सचेत हो गये और आपसमें कहने लगे—"आ गया स्त्रियोंको भगा ले जानेवाला। यह शिशुपालकी स्त्रीको बलपूर्वक उठा लाया। शतधन्वाके साथ सत्यभामाकी सगाई हो गई थी, उसे अपनी स्त्री बना लिया। अब यहाँ भी यह इसी ताड़में आया होगा। इसकी इच्छा पूरी न होने पावे। यह कहकर सभी अस्त्र शस्त्र लेकर सावधान हो गये। भगवान् तो आये ही इसीलिए थे। वे भी ताड़ लगाने लगे।

दूसरे दिन जब मित्रविन्दा जयमाला लेकर निकली तो भगवान्ने उसे तुरन्त पकड़ लिया और रथपर बिठाकर यह गये वह गये। सब राजा देखतेके देखते ही रह गये, किसीकी कुछ चली नहीं। भगवान्को कोई पकड़ हो न सका, फिर लड़नेकी बात तो पृथक् रही। द्वारकामें आकर मित्रविन्दाके साथ भगवान्-ने विधि विधानपूर्वक विवाह किया।

यह समाचार भगवान् की तीसरी फूआ श्रुतकीर्तिकी पुत्री अनुरक्त थी, यह सुनकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई कि भगवान् भद्राने सुना। वह भी भगवान् के अनुपम रूपको देखकर उनपर अब अपनी फूआओंकी लड़कियोंसे भी विवाह करने लगे हैं। यदि कोई स्वेच्छा से नहीं देता, तो बलपूर्वक हरकर भी ले जाते हैं। जब यहबात उसके सन्तर्दनादि भाइयोंको विदित हुई, तो उन्होंने सोचा—"भगवान् तो सत्य संकल्प हैं, वे भक्त वत्सल हैं। जब हमारी बहिन उन्हें वरण करना चाहती है और भगवान्की भी इच्छा है, तो इसे अन्यथा कौन कर सकता है। हम प्रसन्नता-

पूर्वक न देंगे,तो भगवान् बलपूर्वक कन्याका अपहरणकरले जायँगे। अतः ऐसा अवसर ही क्यों आने दिया जाय,हम प्रसन्नतापूर्वक उनके साथ स्वयं ही अपनी बहिनका विवाह क्यों न कर दें। इसमें हमारी भी प्रतिष्ठा रह जायगी, भगवान्का भी स्वागत सत्कार तथा सम्मान हो जायगा।,, यह सोचकर उन्होंने बड़े आदरपूर्वक पीली चिट्ठी भेजकर भगवान्को केकयदेशमें बुलाया। भगवान् भी बरात लेकर बड़ी धूमधामसे सिरपर मौर बाँधकर—दूल्हा बनकर—पहुँच गये। समस्त केकयदेशवासी पुरुषोंने उनका अत्यधिक आदर सत्कार किया। शुभ मुहूर्त और शुभ लग्नमें भद्राके साथ भगवान्का विवाह हो गया। इस प्रकार रुक्मिणी-जी जाम्बवतीजी, सत्यभामाजी, कालिन्दी, मित्राविन्दा और भद्रा ये छै भगवान्की पटरानियाँ हो गईं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने भगवान्के छै विवाहोंका वृत्तान्त आपको सुनाया। अब जिस प्रकार उनका सातवाँ विवाह हुआ उसे और आप सब श्रद्धा सहित श्रवण करें।

छप्पय

गये स्वयम्बर माँहि डरयो सुनिकें दुर्योधन।
कन्या लै हरि भगे लखे बिस्मित ह्वै नृपगन॥
विधिवत् करयो विवाह भई वो पंचम रानी।
ज्यो भद्रा संग व्याह भयो सो कहूँ कहानी॥
भद्रा फूआकी सुता, केकय नृप तनया सुघर।
भाइनि दीन्हीं मुदितमन, स्वीकारी तब गदाधर॥